

सुखसागरज्ञानविन्दु-१७.

श्रीरत्नशेखरसूरिप्रणीत—

संवाधसत्तरी प्रकरण.

श्रीमती बह्मभोजी विरचित,

हिन्दीभाषा सहित

श्रीमान् सुखसागरजी म० के वर्तमानपट्टपर श्रीमान्

हरिसागरजी म० की आज्ञानुयायिनी श्रीमती

शिवश्रीजी म० की शिष्या श्रीमती ज्ञानश्री-

जीकी शिष्या श्रीसुमतिश्रीजीके

सदुपदेशसे द्रव्यसहायक.

कटंगी नियासी रायगढ़ादुर लक्ष्मीचन्द्रजी बोधराने

सोभाग्यवती पुत्री सोहनकुवरबाडके स्मरणार्थ.

श्रीर स० २४५९

सन्ने १९२१

भेट.

समर्पण

प्रान ग्मरणीया ज्ञानदात्री श्रीमती ज्ञानश्रीजी
महाराज साहिबा ।



ज्ञान दान दे हितशिक्षा सह
यह उपहार अपार म्निग,
अधुनयमें नि स्वार्थ भावसे,
भक्तद्वेगम्नर घोष दिया,
मार्थक सत्ते । अत आपके,
करकमलो में हो सादर,
मम्बोध सत्तरि प्रकरण अर्पण,
अपनावें कृपया मातर् ।

प्रायिका

[चह्लभश्री]

प्रातः स्मरणीया
श्रीमती ज्ञानश्रीजी महाराज साहिबा



जन्म	दीक्षा
विक्रम संवत्	विक्रम संवत्
१९२८ आषाढ शुक्ला ३	१९६१ मार्गशीर्ष शुक्ला ५

समर्पण

प्रान ग्मरणीया ज्ञानदात्री श्रीमती ज्ञानश्रीजी
महाराज साहिबा ।



ज्ञान तान दे हिनशिक्षा सह
यह उपकार अपार सिंग,
शिशुवयमें नि स्वार्थ भावसे,
भक्तद्वेगकर बोध दिया,
सार्थक सहे । अत आपक,
करकमलों में हो सादर,
मन्बोध मन्तरि प्रकरण अर्पण,
अपनावें कृपया मातर् !

प्रायिका

[बह्मश्री]

प्रातः स्मरणीया
श्रीमती जानश्रीजी महाराज साहिबा



जन्म	दीक्षा
विक्रम संवत्	विक्रम संवत्
१९२८ आषाढ शुक्ला ३	१९६१ भाद्रपद शुक्ला ५

५ प्रकार के तीर्थ पौषध जिन पूजा का फल और धर्म
 काय में विविधी प्रचलतादि विषय स्पष्ट रूपसे बताये
 गए हैं जिन्हा को सज्जन गण अवलोकन करके हृदय
 में धारण करने योग्य हो उनको अङ्गीकार करें, जानने
 योग्य का ज्ञाने, भ्यागने लायक भ्याग यह ही भावना ।

और कच्छी निवासी रायचडादुर श्रीगुरु लक्ष्मीचन्दजी
 मोयराते इस पुस्तकका प्रकाशितकरणमें उदारधृतिसे
 प्रत्यमदायता ही है अतः उनको यह कार्य अति
 महात्मनीय है

इस पुस्तकमें मुद्राभार्यादि व हवि दापादि करणा सभ्युद्धि
 रही हो सो सज्जन गण । सुधारक फल तथा रूपका सुखाद्युत्पन्न
 अवलोकन कर ॥ इत्यम् ॥

निवेदि

वत्समश्री

इस पुस्तकके संपादन करने आदिमें सुसङ्गुणमम्पन, आचार
 मदायारा मुनिवत् । श्रीमान् कवीन्द्र सागरजी महाराज
 साहबन सतचित्त से परिपूर्ण परिश्रम उद्योग हैं
 अतः इन महोदयका कानिश्च धन्यवाद देता

हुई आपत्तीमान् के उपकारका

आमारी मनना है

वत्समश्री

आमाल ब्रह्मचारिणी
श्रीमती बल्लभश्रीजी महाराज साहिबा



ज म-विद्यम म १९५९
पीप शुक्ल ६

दीक्षा-विक्रम मगत १९६१
मागशीर्ष शुक्ल ५

॥ ॐ नमः ॥

॥ श्री वीराय नमः ॥

। श्रीमन्तः सुखसागरास्मृगुरवो येया जयन्तु प्रगे ॥

श्रीरत्नशेखरसूरिप्रणीतम्

॥ संबोधसत्तरी प्रकरणम् ॥

॥ मूल सस्कृतच्छायाहिन्दीभाषान्तरभूषितम् ॥

नमिऊण तिलोअगुरु, लोआलोअप्पयासघ वीर
सवोहसत्तरी- मह, रएमि उछारगाहाहिं ॥ १ ॥

नत्वा त्रिलोकगुरुं, लोकाऽलोकप्रकाशक वीरम् ।
संबोधसत्तरीकामह, रचयाम्युद्धन गाथाभिः ॥१॥

॥ भाषांतर मद्रुवावरणम् ॥

दिग्धीवक्त्रम् श्रीमान् वीरो विग्नदूषणः ।

दिव्याज्ञानविषं देव-वन्य श्रीमुखमागर ॥१॥

दुर्य सम्बोधसप्तन्या बोधग्यास्मुरप्रभम् ।

भाषानुवाद-संक्षेप श्रीगुरुणामनुप्रदात् ॥ २ ॥

अर्थ —स्वर्ग, मृत्यु-गताल, रूप तीनों लोकके गुरु-
-“गृणाति तत्त्वमसी गुरु” अर्थात् तत्त्वको जो कहते हैं
ग ही गुरु कह जाते हैं, अतः भगवान् सत्त्वे तत्त्वोपदेशक
होने से हीन लोकक गुरुई और लोकान्तरक भाषोंसे
न्यक्त करनेसे प्रकाशर ऐसे धीर परमात्माको नमस्कार
करके मैं (प्रणेता रत्नशेखरस्वरि) ग्रन्थों से गाथाओं
का उद्धार करके सम्बोधसत्तरी नामक प्रकरणको रचता
हूँ ॥ १ ॥

सेयवरो य आसवरो य, बुद्धो अथ हव अन्नो वा
समभावभाविअप्पा, लहेइ मुक्ख न सदेहो २
श्वेताम्बरश्चाशाम्बरश्च, बुद्धश्चाथवाऽन्यो वा ।
समभावभावितात्मा, लभते मोक्ष न सन्देह ॥२॥

अर्थ:-जिसकी आत्मा अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थों में राग द्वेषसे रहित समभावसे भागित है, वह चाहे श्वेताम्बर हो, या दिगम्बर, चाहे बौद्ध हो, अथवा किसी अन्य मतको मानने वाला हो, तो भी अपार ससारके जन्ममरण-मृत्यु-प्राणादि दुःखोंसे मुक्त होकर अजर अमर मोक्ष पदको पाता है. इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है ॥ २ ॥

अद्वयदोसरहिओ,

देवो धम्मोवि निउणदयसहिओ ।

सुगुरुवि चभयारी, आरभपरिग्गहा विरओ ३

अष्टादशदोपरत्तितो, देवो धर्मोऽपि निपुणदयासत्तित'
सगुरुरपि ब्रह्मचारी, आरभपरिग्रहाद्विरतः ॥ ३ ॥

अर्थ-चोथे पाँचवें श्लोकमें दिग्वाये हुए अठारह दू-
पणोंसे जो रहित है. * जो सब संसारी जीवोंसे श्रेष्ठ स्व-

*मिलान कर-इस प्रकार बीतरागस्तान में कलिकाल में हीमचन्द्राचार्य महाराज देवधिदेव स्वरूप कर्मति हैं

य परात्मा पराऽज्याति परम परमेष्ठिनाम् ।

आदित्यवर्णं तमस परस्तादामनन्ति यम् ॥ १ ॥

सर्वे यनोदमूरयन्त-समूला क्लेशपादपा ।

मूर्ध्ना यस्मै नमस्यन्ति मुरामुरनरेश्वरा ॥ २ ॥

रूपी हैं, जो अनन्तरिपयी करणज्ञानमय हैं, पञ्चपरमेष्ठिमें जा प्रधान हैं, ऐसे ही जो अज्ञानके उस पार पहुँच गये हैं, जो मयके जैसे प्रकाश करनेवाले हैं, जिन्होंने रागद्वेषादि स्ले प्रकृतनेवाले वृक्ष जलमूलसे उखाड़लिये हैं, जिनको सुरा-सुरनरमाथभी नमस्कार करते हैं, उनको देवाधिपति कहते हैं । निपुण दयामयी, सर्वज्ञप्रणीत, मोक्षमें जानेके लिये जो अनन्य कारणरूप हैं, और “ दुर्गतां प्रपतन्तं सत्त्वसं द्वात धारयतीति धर्मः ” दुर्गतिमें गिरते हुए प्राणियोंको धारण करता है, अर्थात् दुर्गतिसे बचाता है, यह ही धर्म कहा जाता है “ अहिंसा परमो धर्म ” किसी जीवकी हिंसा न करना यह उत्कृष्ट धर्म है, उत्सर्गेन “ वस्तु सहायोगम्मो ” “ वस्तुस्यभागो धर्म ” वस्तुगत वस्तुके स्वभासको जानकर त्याग करने लायक विभावदशाका त्याग करना अङ्गीकार करने लायक आत्मदशाका अङ्गीकार करना ही उत्कृष्ट निश्चय धर्म ज्ञानीने फर्माया है । ब्रह्मप्रपन्नके धारक और आरम्भ परिग्रहको त्यागनेवाले ही सद्गुरु होते हैं * उपर्युक्त

* भिन्नानुकर - धर्मना धर्मकता न सन् धर्मप्रवृत्तक ।

धर्मको जो जानते हैं, और ऐसे धर्मका आराधन करनेसे सेवन करने वाले जो होते हैं, जो हमेशा सच्चे धर्मके प्रवर्तक हैं, प्राणी-मात्रको जो धर्मशास्त्रके अर्थका उपदेश करते हैं, वे ही गुरु कहे जाते हैं. और भी गुरुकुलका लक्षण यह है, कि गुरु अज्ञान रूप अन्धकारके विरोधी अर्थात् तिमिरको नाश करते हैं, क्योंकि कि गुरु इन दो अक्षरों में सच्चा स्वरूप रहा हुआ है, यानि “गु”-एसा जो गर्ण है वह अन्धकार को कहने वाला है और “रु” है वह उसका विरोधि-अन्धकार नाशक है, अतः गु और रु इन दोनोंका एक साथ मिलान कर अर्थ करनेसे अन्धकाररूप अज्ञानका विरोधी गुरु होता है। प्रस्तुत गुरु के प्रसङ्गमें शास्त्रमें दिखाये तीन प्रकारके गुरुओं का दिग्दर्शन करना भी योग्य ही है

॥१॥ गुरु-छिद्र रहित वायु के जहाज जैसे होते हैं, जिना

सारेभ्या धर्मशास्त्राथ-देशका गुरुच्यते ॥

श्यामाचार्यकृताया पनवणासूत्रे-

मिलानकरे- गुरुशब्दस्त्वधकारे स्याद् व शब्दस्तद्विरोधक ।

अन्धकारविरोधित्वाद् गुरुत्वमिधीयते ॥ १ ॥

कवीन्द्रकेलिमे इस प्रकार कहा है-मिलानकरे-यथा—

(६)

छिद्रवाला जहाज समुद्र से स्वयं निरता है उस में बैठने वाले पुरुषों को भी तिराता है, तैसे ही सदागरी ज्ञानी गुरु आप ससार रूप समुद्रसे तिरते हैं और उनसे आश्रित रह हुए भक्तजन, भग्यात्मा उन्हों को धर्म रूपी जहाजमें बैठा कर ससार सागरसे तिराते हैं ॥१॥ गुरु पान समान होते हैं, जैसे वृक्षका पान समुद्रमें गिर तो आप स्वयं पार पास-कता है, परं च अन्य जनों को पार नहीं पहुँचा सकता है, तद्वत् गुरु आप ससारके पारको पा सकते हैं लेकिन अन्य जनों को ससारक पारको नहीं प्राप्त करा सकते हैं अतः क्व केवलीको मुआफिय क्यों कि आयुष्य अल्पन्त ही कम होने से उपदेनाति अन्य पुरुषों को नहीं देसकते हैं, अतः

गुरुवन्निविष्टा प्राप्ता भाग्येषु महर्षिभिः ।

धर्मस्य समुपदेया ज्ञेया हेतवस्तुष्वोर्विभिः ॥ १ ॥

एवम निजाश्रितान्घो तारयन्तस्तरन्ति यः ।

निःशङ्कस्तुल्यवस्ते प्रथम्य गुण्यो मया ॥२॥

एवमकं तारयन्त्यकं नात्र तारयितुं परान् ।

कृन्पनापमा सिधौ द्विताया गुरुवस्तिदम ॥ ३ ॥

एवम निजाश्रितान् बाधो पातयन्त पतन्ति यः

अहर्षिण्योपमा एते तृतीया गुरुवाऽधमा ॥४॥

ऐसे गुरु आप संसार से तिरते हैं, ओरो को नहीं तिरा सकते हैं।
 ॥३॥ गुरु लोह की जहाज सदृश होते हैं, जैसे लोहकी जहा-
 ज खुद समुद्र में डूबकर रसातल में पहुँचती है, और उस
 लोह की जहाज में रहे हुए पुरुषों को भी डूबाकर रसात-
 ल में पहुँचाती है। तद्वत् पापकारी, नामधारी गुरु कर्मों
 से भारी हुए आप स्वयं संसार समुद्र में नरक रूप रसातल
 में पहुँचते हैं, और उनके आश्रित रहे हुए जनोको भी न-
 रक में पहुँचाते हैं ॥ उपरोक्त तीन प्रकारके गुरु के स्वरूप
 को समझ कर अङ्गीकार करने लायक सद्गुरु को अङ्गी-
 कार करना चाहिये उनहीकी सेवा शुश्रूषा भक्ति करने से
 कर्मोंसे भव्यात्मा मुक्त होते हैं। त्याग करने योग्य गुरुका
 त्याग करना ही चाहिये ॥ ३ ॥

अन प्रथम देव के अठारह दूषण उतलाए जाते हैं। इन निम्न-
 लिखित १८ दूषणोंको नष्ट करने से ही देवपना प्राप्त होता है
 अन्नानाण कोह मय माण, लोह माया रईय अरई य
 निदा सोअ अलियवयण,

चोरिआ मच्छर भया य ॥ ४ ॥

पाणिवह पेम कीला-पसगहासा य जस्त ए दोसा
अट्टारसवि पणट्टा, नमामि देवाहिदेव त ॥ ५ ॥

अज्ञान क्रोध मद मान-लोभ मायारतिश्चारतिश्च ।
निद्रा शोकातिकवचन-चौरिकामत्सरभयानि च ४
प्राणिरधप्रेमक्रीडा-प्रसगहामाश्च यस्म्येते दोषा ।
अष्टादशापि प्रणष्टा, नमामि देवाधिदेव तम् ॥ ५ ॥

अर्थ — ० अज्ञान १ क्रोध २ मद ३ मान ४ लोभ ५

माया ६ रति ७ अरति ८ निद्रा ९ शोक १० असत्यग्न
११ चोरी १२ मत्सर १३ भय १४ जीर्णहिंसा १५ प्रेम
१६ क्रीडा प्रसङ्ग १७ हास्य १८ ये १८ दूषण जिन्हा के
नष्ट हुए हैं उन देवाधि देव को मैं नमस्कार करता हूँ ४-५

० तयाधीयेन मयाष्टादशाया कल्पकालमग्राह्यं ह्यमवद्रुपात् अभिभूतचित्ता
मन्यामाहुः आस्तवाक्ये प्रमाण ।

अंतराष्ट्रदानगण-वीथ भागापभोग्य ।

हृषो रत्नरत्नामातिबुद्धिगुणा शोक एव च ॥

कामा मिथ्याबोधन निरा चाविरतिस्तथा ।

रणा द्रव्य नो दाया-स्तेषामगदनादमा ॥

॥ धर्म का स्वरूप ॥

सव्वाओवि नईओ, कमेण जह सायरमि निवडति
 तह भगवई अहिंसिं, सव्वे धम्मा समिल्लति ँ
 सर्वा अपि नयः, क्रमेण यथा सागरे निपतन्ति ।
 तथा भगवत्प्यामहिंसाया, सर्व धर्माः सम्मिलन्ति ँ

अर्थ—जैसे सब नदिएं अनुक्रम से समुद्र में आकर
 गिरती हैं, तैसे ही भगवन् की जीउया में सब ही धर्म आकर
 मिलते हैं ॥ ६ ॥

॥ गुरु का स्वरूप. ॥

ससरीरेवि निरोहा, वड्झडिभतरपरिग्गहविमुक्का
 धम्मोव्वरणमित्त, धरति चारित्तरक्खट्ठा । ७।
 पच्चिदियदमणपरा, जिणुत्तसिद्धतगहियपरमत्था
 पचसमिया तिगुत्ता, सरण मह एरिसा गुरुणो ।
 स्वशरीरेऽपि निरीहा, बाह्याभ्यन्तर परिग्रहविमुक्ताः
 धर्मोपकरणमात्र, धारयन्ति चारित्रक्षार्थम् ॥ ७ ॥
 पंचेन्द्रियदमनपराः जिनोक्तसिद्धान्तगृहीतपरमार्था
 पचसमिताम्निगुप्ताः, शरण मर्मतादृशा गुरवः ॥ ८ ॥

अर्थ —अपने शरीर में भी जिहो की निस्पृहता रही है, और वायु धन धान्यादि नष्ट मित्र तथा अभ्यन्तर कषायादि पण्डित से विमुक्त हुए चारित्र्य की रक्षा के वास्ते ही मात्र धर्मोपकरण जिन्होंने धारण किये हैं ॥ ७ ॥ पाच इन्द्रियों को न्यून करने में तत्पर, सर्वज्ञ प्रकाशित सिद्धान्तों से उत्तुष्ट अर्थों को ग्रहण करने वाले, पाच समिति, तीन गुणों से संयुक्त ऐसे गुरु महागजों का मुख को शरण हो ॥ ८ ॥

॥ कुशुभ का स्वरूप ॥

पासत्थो ओसन्नो, होइ कुसीलो तहेव ससत्तो
अहठदो वि ष ण ण, अवदणिज्जा जिणमयमि ९
पार्श्वस्थोऽवसन्नो, भवति कुशीलस्तथैव ससत्त ।
यथा छदोऽपि चेतो-ऽवदनीया जिनमते ॥ ९ ॥

अर्थ —पासत्था—ज्ञानादिक को अपनी पास रखकर भी आराधन न कर और मिथ्यात्वादि बंध हेतु रूप पाश बंध में बंधे रह तथा ज्ञानादि रत्न त्रयी विहीन केवल द्रव्य-

लिङ्गी गृहस्थाचार धारी हो उस को पासत्था कहते हैं ॥

ओसन्ना-क्रिया मार्ग में शिथिलता-या-प्रमाद करे. खेद पावे, उस को ओसन्ना कहते हैं ॥ कुशीलिया-कुत्सित-निन्दनीय जिस का आचार विचार हो. और ज्ञान, दर्शन.

चारित्र की प्रशंसा करे उस को कुशीलिया कहते हैं, ॥

संसक्त-वैरागी पुरुषों का संयोग मिले तो वैराग्य दशा को धारण कर और अनाचारी पुरुष मिले तो अनाचार-आ-

चार से विरुद्ध कार्य करने लग जाय. उस को संसक्त कहते हैं ॥ यथाछन्द-तीर्थंकर परमात्मादि की आज्ञा के बिना

ही अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करे तथा प्ररूपणा कर उस को यथा छन्द कहते हैं. ॥ उपरोक्त पांचों ही कुगुरु अव-

न्दनीय कह गये हैं. ॥ (इन पांचों का स्वरूप विस्तार से जानने के जिज्ञासु देवेन्द्रसरि कृत ' गुरुवदन भाष्य ' की

१० वीं गाथा के ज्ञान प्रिमल सरि कृत टीकार्थ में विशेष विवेचन किया गया है. वहां से जान लें. यहा प्रथम गोरक्ष-

ता के कारण से संक्षेप से ही विवेचन लिखा गया है,) ९

॥ कुशुभ चन्दन फल ॥

पासत्थाइ वदमाणस्स, नेव किञ्ची न निज्जरा होई
जायइ कायकिलेसो, वधो कम्मस्स आणाइ
पाम्भस्थादीन् चन्दमानस्य, नैव कीर्तिर्न निर्जराभवति
जायते कायजलेशो, चन्ध. कर्मण आज्ञाया (भङ्ग) १०

अर्थ — उपरोक्त पासत्यादिकों को चन्दन करने वाले
पुण्या की कीर्ति नहीं होती है, और निर्जराभी नहीं हो
सकती है. अर्थात् कर्मों से मुक्त नहीं होते हैं. उल्टा काय-
जलेश होता है, और कर्मों का चन्दन होता है. जिन आ-
ज्ञा का भंग होता है ॥ १० ॥

चन्दन कराने वाले कुशुभ को क्या फल मिलता है
वह बताते हैं

जे वभचेरभट्ठा, पाए पाडति वभयारीण ।
ते हुति टुटमुटा, बोहि वि सुदुल्लहा तेसिं ११
ये ब्रह्मचर्यभ्रष्टा, पादे पातयन्ति ब्रह्मचारिण ।
ते भवन्ति टुटमुटा बोधिरपि सुदुर्लभा तेषाम् ११

अर्थ — जो ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट भ्रष्टाचारी साधु, ब्रह्म-
चारी पुरुषों से नमस्कार कराते हैं अर्थात् पैरों में गिराते
हैं कृशील्ये द्रव्यलिङ्गी भवान्तर में पाङ्गुले होते हैं और
उन दुःशीलिओं को योग गीज-सम्यक्त्व की प्राप्ति भी
अत्यन्त ही दुर्लभ होती है ॥ ११ ॥

दसणभट्टो भट्टो, दसणभट्टस्स नत्थि निव्वाणं ।
सिज्झति चरणरहिआ, दसणरहिआ न सिज्झति
दर्शनभ्रष्टोभ्रष्टो, दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् ।
सिध्यन्ति चरणरहिता, दर्शनरहिता न सिध्यन्ति १२

अर्थ:—सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुए पुरुष भ्रष्ट कहे जाते हैं।
सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुए जीवों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो-
ती है। द्रव्य चारित्र रहित आत्मा सिद्ध होते हैं। मगर स-
म्यक्त्व से रहित आत्मा कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध नहीं
होते हैं ॥ १२ ॥

॥ जिनाज्ञा का उल्लङ्घन न करना उस
विषयको दर्शाते हैं, ॥

तित्थयरसमो सूरि, सम्म जो जिणमय पयासेई
 आणाइ अइक्कैतो, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो
 तीर्थकरसम सूरि, सम्यग् यो जिनमत प्रकाशयति
 आज्ञामतिक्रामन् स, कापुरुषो न सत्पुरुष ॥ १३ ॥

अर्थ — तीर्थकर समान सूरि (आचार्य महाराज]
 होते हैं जो कि सम्यग् प्रचार से जिन मत को प्रकाशित
 करते हैं लेकिन वे ही आचार्य जिनाज्ञा का उल्लंघन करते
 हैं, तो उनको नामगरी बुद्धिसिद्ध आचार्य जानना परन्तु सत्पु-
 रुष न जानना ॥ १३ ॥

जह लोहशिला अप्पपि धोलए

तह विलग्गपुरिसपि ।

इय सारभो य गुरु, परमप्पाण च धोलेई ॥ १४ ॥

यथा लोहशिलाऽऽत्मानमपि,

ब्रूयति तथा विलग्नपुंस्यमपि ।

एव सारभश्च गुरु, परमात्मान च ब्रूयति ॥ १४ ॥

अर्थ — जैसे लोहकी शिला स्वयं टूटती है और

शिला के ऊपर स्थित पुरुषों को भी डूबा देती हैं. तैसे ही
सायय व्यापारी गुरु खुद ससार समुद्र में डूबते हैं. और
उन के आश्रित रहे हुए भक्तजनों को भी डूबा देते हैं. १४

किङ्कम्म च पससा सुहसीलजणमि कम्मवधाय
जे जे पमायठाणा ते ते उववूहियाहुति ॥ १५ ॥

एव णाऊण ससग्गि-दसणालावसथव ।

सवास च हियाकखी, सव्वोवाएहिं वज्जए । १६ ।

कृतिकर्म च प्रशसा, सुखशीलजने कर्मबन्धाय ।

यानि यानि प्रमादस्थानानि,

तानि तान्युपवृत्तानि भवन्ति । १५ ।

एव ज्ञात्वा ससर्ग-दर्शनाऽऽलापसस्तवम् ।

सवास च हिताकाङ्क्षी, सर्वोपायैर्वर्जयेत् ॥ १६ ॥

अर्थ—सुख शीलिया-भ्रष्टाचारी कुगुरु को कृतिकर्म-
द्वादशार्त वन्दनादि तथा प्रशसा वगैरह करनी वह कर्म
बधन के लिये होती है. और उपरोक्तानुसार करनेवाले
पुम्प, जितने २ प्रमाद स्थान ह. उतने २ अधिक वृद्धिगत

करते ह. अर्थात् भ्रष्टाचारी को बन्दनादि करना है गोया प्रमादादि पापस्थानको बढाना है ॥ १५ ॥ इसलिये ऐसा समझकर अपना हित चाहने वाले पुरुष को पास्त्यादि हुंफुर या ससर्ग-समिति, दर्शन, उन के साथ वार्त्तालाप का करना और उन की तारीफ, तथा भ्रष्टाचारी के सारमें मे निवास आदि सर्वथा त्याग करना चाहिये ॥ १६ ॥

॥ चारित्र्यमें जित्थिल साधुको शिक्षा ॥

अहिगिलइ गलइ उअर अहवा

पच्छुग्गलति नयणाइ ।

हा विसमा कज्जगई, अहिणा छच्छुदरि गहिजा ।

अधिगिलति गिलत्युदर-मथवा प्रत्युद्विलन्ति नयनानि
हा । विषमा कार्यगति-रहिना छच्छुदरी गृहीता

अर्थ,—जो चारित्र्य ग्रहण करने वा न शिथिल परि-
णामी बनने है, उन की दशा छछुन्दरी ग्रहण किये हुए
सर्प की जैसी बनती है जैसे सर्प छछुन्दर को मुख में ग्र-
हण किये न न गिर जाय तो उस का पट सड़ता है

और मुर से बाहिर निकाले तो उस की आंखें नाश होती हैं, हा ? इति गेदे सर्प छडुन्दर के जैसे चारित्र मे भग्न परिणामी के कार्य की विरम गति होती है ॥ १७ ॥

॥ चारित्र की सर्वोत्कृष्टता ॥

को चक्रवर्तिरिन्द्रि, चइउ दासत्तण समभिलसई ।
को वा रयणाइ मुत्तु, परिगिन्हइ उवखखडाई । १८ ।
रुक्मरुवर्तिरुद्धि, त्यक्त्वा दासत्व समभिलषति ।
को वा रत्नानि मुक्त्वा, परिगृह्णात्पुपलग्नडानि । १८ ।

अर्थ—रुक्मर्षि की रुद्धि का त्याग कर दास होने की इच्छा कौन करे, और रत्न को छोड़ कर पत्थर के टुकड़े को ग्रहण कौन करे, अपि तु कोई भी जानकार तो न करे, वैसे ही संसार भर मे सर्वोत्कृष्ट साधु धर्म को पाकर तात्परिक सन्ने सुख के अभिलाषी कौन महानुभाव उस अमूल्य चारित्र रत्न को त्याग करे अर्थात् कोई भी त्याग न करे ॥ १८ ॥

चारित्र का आराधन करते समय अवस्थित हुए विन्नोका

नाश होगा उस को दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं.

नेरइयाणवि दुक्ख, जिज्झइ कालेण किं पुण नराण
तान चिर तुह होई, दुक्खमिण मा समुच्चियसु १९

नैरयिकानामपि दुःख, जीर्यतिकालेन
किं पुनर्नराणाम् ।

मस्मान्न चिर तव भवति, दुःखमिदं मा स्विद्यस्व १०

अथ —नारकी के दुःख भी अनुक्रम से नष्ट होते हैं
तो फिर मनुष्य के दुःखों का नाश होने में कहना ही क्या
इसलिये तेरे को यह दुःख दीर्घ काल तक नहीं रहेंग, ऐ-
सा समझकर तू खेद मतकर ॥ १९ ॥

चारित्र्य ग्रहण कर त्याग पर देना बहुत ही अनिष्ट है, ऐसा
बताने के लिये कहते हैं ॥

वर अग्निमि प्रवेशो, वर विसुद्धेण कम्मणा मरण ।

मा गहियवयमगो मा, जीअ खलिअसीलस्स । २०

वरमग्नौ प्रवेशो, वर विशुद्धेन कर्मणा मरणम् ।

मां गृहीतव्रतमगो, मा जीवितं स्वलितशीलस्या २०।

अर्थ —अग्नि के अन्दर प्रवेश करना अच्छा है, वि-
शुद्ध कर्म-अनशनादि करके मरना अच्छा है, लेकिन ग्रहण
किये हुए व्रत का भंग करना श्रेष्ठ नहीं है. एवं शील-सदा
चारी से स्वलित होने वाले का जीना भी व्यर्थ है. ॥२०॥

॥ सम्मत्त का स्वरूप. ॥

अरिह देवो गुरुणो, सुसाहुणो जिणमय मह पमाण
इच्छा इ सुहो भावो, सम्मत्त वित्ति जगगुरुणो ॥२१॥

अरिह देवो गुरुव , सुसाधवो जिनमत मम प्रमाणम् ।
इत्यादि शुभो भावः सम्यक्त्यं ज्ञयते जद्गुरुव ॥२१॥

अर्थ —देव अरिहन्त-कर्मरूप भावशत्रु को नाश कर-
ने वाले अरिहन्त ही मेरे आराध्य देव हैं. गुरु सुसाधु-स्व,
पर आत्मा के उद्धारक सुसाधु ही मेरे गुरु हैं. ॥ और
अनेकान्त वाद है जिस में ऐसा जैन शासन ही मेरे पर-
म माननीय है. इत्यादि दृढ श्रद्धा रूप शुभ भाव को ही
जगद्गुरु-तीर्थंकर परमात्माने व्यवहार सम्यक्त्व फरमाया
है. निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप श्रीमद् देवचन्द्रजी महागज

कृत “ आगम सार मे इस प्रकार बतलाया गया है. निश्चय देय—अपनी ही आत्मा. जीव निष्पन्न स्वरूपी सिद्ध वह सग्रह नय की सत्ता अपेक्षासे निश्चय गुरु-भी अपनी आत्मा-तत्त्व रमण करने से और निश्चय धर्म-वह अपना जीव का स्व स्वभाव ही है ऐसी दृढ़ सुश्रद्धा बरही मोक्ष दायिनी है. वयोंकी जीव स्वरूप पहिचाने बिना कर्म क्षय नहीं होते हैं अतः शुद्ध श्रद्धान कोही निश्चय सम्यक्त्व फरमाया है. उपरोक्त दोनों प्रकार के सम्यक्त्व के स्वरूप को अङ्गीकार किये बिना इष्ट कार्य की सिद्धि नहीं होती है अतः व्यवहार को साधन करते हुए भी निश्चय आत्म धर्म को प्रकट करने को प्रयत्नशील होना ही चाहिये ॥ २१ ॥

॥ सम्यक्त्व की दुर्लभता. ॥

लब्धमिदं सुरसामित्तं लब्धमिदं पदुअत्तणं न सदेहो ।
एगं नवरिं न लब्धमिदं, दुल्लहरयणं च सम्मत्तं ॥ २२ ॥
लभ्यते सुरस्वामित्वं, लभ्यते प्रभुत्वं न सन्देहः ।
एकं नवरं न लभ्यते दुर्लभरत्नं च सम्यक्त्वम् ॥ २२ ॥

(२१)

अर्थ:—देव स्वामित्व को प्राप्त करते हैं, प्रभुत्व को प्राप्त कर सकते हैं. इस में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, केवल चिन्तामणी रत्न रूप एक दुर्लभ सम्यक्त्व रत्न ही प्राप्त करना अत्यन्त ही दुर्लभ है. ॥ २२ ॥

॥ सम्यक्त्व का फल. ॥

सम्मत्तमि उ लद्धे विमानवज्ज न वधए आउ ।
जइवि न सम्मत्तजढो अहव न वद्धाउओ पुब्बि ।
सम्यक्त्वे तु लब्धे, विमानवज्जं न वध्यत आयु ।
यत्रापि न सम्यक्त्वजढो, ऽथवा न वद्धायुष्क. पूर्वम् २३

अर्थ:—चिन्तामणि रत्न से भी बढ़कर, अमूल्य सम्यक्त्व रत्न को पाने पर वैमानिक देव के आयुष्य को छोड़ कर अन्य किसी प्रकार के आयुष्य को जीव नहीं बाँधता है. यदि वह सम्यक्त्व से पतित न हुआ हो वा उसने पहिले किसी अन्य गति के निष्काचित आयुष्यको न बाँधा हो । अतः सम्यक्त्व ही स्वर्गापर्ग के अविनाशी मुखों को देता है २४

॥ सामायिक का फल ॥

दिवसे दिवसे लक्ष्म देइ सुवन्नस्स खडीय एगो ।
एगो पुण सामाइय करेइ न पहुप्पए तस्स ॥२४॥

दिवसे दिवसे लक्ष ददाति सुवणस्य खाण्डिकमेक
एक पुन सामायिक करोति न प्रमुत्ये तस्य ॥२४॥

अर्थ —एक पुरुष प्रतिदिन लाख खाडी [१० मण]
प्रमाण सोनेका दान देता है. एक पुरुष सम भाव में रह
कर ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अपूर्व गुणों के लाभ रूप
मुहुर्त फल पर्यन्त सामायिक को आराधन करता है उस
सर्वधारी की समानता को लक्ष खडी सोने का दान देने
वाला भी नहीं पासफता है. लक्ष खडी सोने के दान देने
से भी ज्ञानी ने समभाव रख कर ज्ञान, दर्शन, चारित्र को
आराधन करने में विशेष फल फरमाया है, अतः प्रत्येक प्रा-
णी को उपरोक्त सामायिक का आराधन आश्रयमेव करना
चाहिये ॥ अष्ट भस्त्र की सामायिक का स्वरूप वृष्टा-
न्त पृथक् महोपाध्याय श्री समाकल्याणजी महाराज कृत
चातुर्मासिक व्याख्यान में बतलाया गया है अतः जिज्ञा-

सु जन वहां से जान ले. ॥ २४ ॥

सामायिक में स्थित पुरुष की कैसी स्थिति होती है, वह बतलाते हैं ॥

निदपससासु समो, समोश्च माणावमाणकारीसु ।
समसयणपरयणमणो, समाइयसगओ जीवो । २५

निन्दा प्रशसासु समः, समश्च मानापमानकारिषु ।
समस्वजनपरजनमनाः, सामयिक सगतो जीवः । २६

अर्थः—चाहे कोई उस पुरुष की निन्दा करे आदर कर, या तिरस्कार करे स्वजन हो, या अन्य जन हो. इत्यादि अनुकूल प्रतिकूल जितने कारण मिले उन सबों पर सामायिक में स्थित पुरुष समभाव रखे. राग द्वेष की परिणति को हटाकर आत्मगुणों में रमण कर. वह ही जीव उत्कृष्ट सामायिक का अधिकारी बन सकता है. वीर परमात्मा ने उपरोक्त सामायिक के आराधक, पुणिया सुश्रावक के सामायिक की प्रशंसा की है. जिसके अतुल फल की तुलना मगधेश्वर श्रेणिक राजा भी न कर सका. ॥ २६ ॥

॥ सदोष सामायिक की निष्कलता ॥ १

समाइय तु काउ, गिहिकज्ज जोवि चितए सद्धो ।

अट्टवसट्ठावगओ निरत्थय तस्स समाइय ॥२६॥

सामायिक तु कृत्वा, गृहकार्यं योऽपि चिन्तयति श्राद्ध-
आतरोद्गमपगतो निरर्थक तस्य सामायिकम् ॥ २६ ॥

अर्थ —जो भ्रावर सामायिक को करता हुआ
गृह कार्य सारग्न व्यापार के काम चिन्तन करता है और
आर्त्ति, हौद, ध्यान-महा सम्मिलित परिणामों से परिणत होता है-
मन, उचन, कायरूप योगों को आभार भाव में वर्त्तता है
उस की सामायिक ज्ञानी ने निरर्थक बतलाई है. अर्थात्
इस प्रकार की सामायिक करने से सबर भाव पैदा नहीं
होता सबर भाव मिना कर्म रज दूर नहीं होती है अतः
बत्तीस दोष को त्याग कर सामायिक करने में प्रतिदिन
उद्यम करनाही चाहिये ॥२६॥

॥ आचार्य महाराज के गुण ॥

पडिरूवाइ चउदश, खंतीमाई य दसविहोधम्मो ।

चारस य भावणाओ, सूरिगुणा हुति छत्तीस ॥२७॥

प्रतिरूपादयश्चतुर्दश, क्षान्त्यादिश्च दशविधो धर्मः ।
 द्वादश च भावनाः । सूरिगुणा भवन्ति पट्विंशत् २७

अर्थः—प्रतिरूपादि चौदह गुण-प्रतिरूप १ तेजस्वी २
 युगप्रदान ३ मुख भुवि से बोलने वाले ४ गम्भीर ५
 धैर्य वाले ६ उपदेश देने में तत्पर सदाचारी ७ सुना हुआ
 स्मृति में रखने वाले ८ चन्द्रजैसी गितलता के धारक ९
 संयम शील १ नानाविध अभिग्रह वाले ११ विकथा वि-
 हीन १२ अचञ्चल १३ प्रशान्त हृदयी १४ ये प्रतिरूपादि
 १४, दश प्रकार के यति धर्म—*क्षमायान् १ मानहीन २
 फट्ट रहीत ३ मुक्ति-निर्लोभी ४ सत्तरह प्रकार के सयमी
 ५ बारह प्रकार के तपस्वी ६ सत्यवक्ता ७ शौच-पञ्चेन्द्रिय
 निग्रही ८ आकिञ्चन-नव विध परिग्रह से रहित ९ बह्मप्र-
 त-अठारह हजार शिलाग्र रथ गोरी इन १० प्रकार के य-

* नवतत्वमेव इम प्रकार कह है—

सती महद्य भक्षव, मुक्ती तदा सज्जमे अ घोषठ्य ।
 सत्त्व सौम्य भविष्य च बभ च जइ धम्मो ॥ २९ ॥
 क्षान्ति मार्दव मायजश्च मुचिस्तप सयम-व चाद्वय ।
 स्रग् शौचनन्दित्रय च मद्ग च यतिधम्म । १ ॥

ति धर्म के धारक. बारह भावना * अनित्य भावना-ससार में
 उम के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नित्य नहीं है. देव, गुरु
 धर्म के सिवाय अन्य कोई शरण भूत नहीं है. २ संसार भा-
 वना-८४ लाख जीवा योनि में परिभ्रमण का चिन्तन ३
 एकत्व भा.-अकेला जीव आया और अकेला जाया कोई
 किसी के साथी नहीं है ४ । अन्यत्व-आत्मा से शरीर, पु-
 त्र, फल आदि का भिन्न चिन्तन ५ अशुचि पदार्थों का
 खजाना है, इत्यादि विचारना. ६ आश्रय भावना-ससारी
 जीवों को मिथ्या आदि वस्तु हेतुओं से कर्म धन्य होता

* नवतथ्ये कदा है —

पदममणिमसरण ससारो एग्य व भवत ।

अमुक्त आसथ सवरा य तह निमरा नचमी ॥ ३० ॥

अयममनित्यमसरण ससार एकता वान्यत्वम् ।

अशुचित्वमशुच सवग्य तथा निम्वरा नचमी ॥ ३१ ॥

जेगतद्वाको बाही दुलहा धम्मस्य साहय अरिहा ।

एआओ भावणाव्य म्कोयक्या पयतेन ॥ ३२ ॥

लोकस्वमाय बोधि, दुईमा धम्मस्य साधन भईत ।

एता भावना आवितक्या प्रयत्नेन ॥ ३३ ॥

है. इत्यादि चिन्तन. ७ । सवरभावना-मिथ्यात्वादि बंध हेतु को रोकने का उपाय सम्यक्त्वादि है. इत्यादि चिन्तन ८ निर्जरा भावना ज्ञान सहित की हुई क्रिया सक्राम निर्जरा और अज्ञान से की हुई कष्ट क्रिया अक्राम निर्जरा, सक्राम निर्जरा का चिन्तन ९ । लोक स्वरूप भावना पद्म-द्रव्य से भरा हुआ चौदह रज्जु प्रमाण यह लोक है उस का चिन्तन १० । बोधि दुर्लभ भावना-अनन्तकाल चक्रमे फिरते २ मनुष्यजन्म की दुर्लभता और उस के मिलने पर भी बोधि रत्न की दुर्लभता उसका चिन्तन ११ ॥ धर्म भावना-दुरस्त संसार सागर से पार होने प जिनेश्वर प्रकाशित धर्म ही जहाज रूप है. इत्यादि चिन्तन ये १२ गारुड भावनाएँ । इनके स्वरूप को चिन्तनेवाले. उपरोक्त १४ प्रति रूपादि गुण, १० यति धर्म १२ भावनाएँ सब मिलाने से ३६ होते हैं. ये ३६ गुणों से आचार्य महाराज सुशोभित हैं.

साधु के २७ गुण

छव्वय उकायरवखा, पचिंदियलोहनिग्गहो खती
 भावविमुद्धि पडिलेहणा, य करणे विमुद्धी य २८
 सजमजोए जुत्तो, अकुसलमणवयणकायसरोहो ।
 सीआइपीडसहण, मरण उवसग्गसहण च ॥२९॥
 सत्तावीसगुणेहिं एएहिं जो विभूसिखो साहु ।
 त पणमिज्जइ भत्तिभरेण हियएण रे जीव ॥३०॥
 पड्वतानि पट्कायरक्षा, पचेद्वियलोभनिग्रह क्षान्ति
 भावविमुद्धि, प्रतिलेखना, च करणे विमुद्धिश्च २८
 समययोगे युक्तो ऽकुशलमनोवचनकायसरोध ।
 शीतादिपीडासहन, मरणमुपसर्गसहन च ॥ २९ ॥
 सप्तविंशतिगुणैरर्त, यो विभूषित साधु ।
 त प्रणम भक्तिभरेण हृदयेन रे जीव ॥ ३० ॥

छत्र-महावत ५ रात्री भोजन छद्वाइस प्रकार प्राणातिपात-
 जीवहिंसा १ मृषावाद-असत्यवचन २ अदत्ताग्नान-चौरी ३
 मैथुन-शुशील या अग्रहव्रत ४ परिग्रह-वन वान्यादि इन
 पाचों का सर्वथा विविध - त्याग करे. विशेष महाव्रत का

स्वरूप व्यवहार निश्चय से जानने के जिज्ञासु श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज कृत आगमसार पढ़ें उस में विशेष वर्णन है. और अशन, पान, स्वादिम. स्वादिम वगेरह रात्रि भोजन सर्वथा न करे अर्थात् रात्रिभोजन के सर्वथा त्यागी बने. छाया. पृथ्वी १ पानी २ अग्नि ३ वायु ४ वनस्पति ५ ऋष ६ इन छ काय की रक्षा करे पाच इन्द्रिय-स्पर्श-शरीर ७ जिह्वा ८ नाशिका ९ चक्षु ४ कान ५ इन पाचों इन्द्रियों का तथा लोभ का निग्रह करे १८ क्षमाशील, १९ परिणति निर्मल रखे, २० पडिलेहण विशुद्धता से करे २१ योग युक्त संयम पाले. २२ दुष्कृत्योंसे मन, वचन, काया को रोके, २५ शीतादि व्यथा को सहन करे २६ मरणान्त कष्ट को समता के साथ सहे. २७ उपरोक्त इन २७ गुणों से विभूषित जो साधु महाराज हो उन महानुभाव को अरे जीव भक्ति से परिपूर्ण भरा हुआ हृदय से तू प्रणाम कर ॥ २८-२९-३० ॥

॥ श्रावक के २१ गुण ॥

धम्मरयणस्स जुग्गो, अकरुद्धो रुग्गव पगइसोमो ।
 लोगप्पिओ अकरो, भीरु असदो सुदक्खिण्णो ३१
 लज्जालु, अ दयालु, मज्झत्थो सोमदिट्ठी गुणरागी ।
 सक्क सुपक्कयुत्तो, सुदीर्घदर्शी विसेसन्नू ॥ ३२ ॥
 बुद्धानुगो विणिओ कयन्नो परहिअत्थकारी अ ।
 तह चैव लब्धलक्खो, इगयीसगुणो ह्वइ सद्धो ३३
 धम्मरत्नस्य योग्यो, उद्भुद्रो रूपवान् प्रवृत्तिसौम्य ।
 लोकप्रियोऽकुरो, भीरुशठ सुदाक्षिण्य ॥ ३१ ॥
 लज्जालुश्च दयालु मध्यस्थः सौम्यदृष्टिर्गुणरागी ।
 सत्कथं सुपक्षयुक्तः, सुदीर्घदर्शी विशेषज्ञः ॥ ३२ ॥
 बुद्धानुगो विनीतः, कृत्स्न परहितार्थकारी च ।
 तथाचैव लब्धलक्ष्य-एकविंशतिगुणो भवति श्राद्ध

अर्थ — धर्म रूप रत्न को प्राप्त करने योग्य श्राद्ध
 ३१ गुणो से सुशोभित होते हैं २१ गुण ये हैं-भुद्र-तुण्ड
 स्वभावी न हो १ रूप शाली हो २ सौम्य स्वभावी ३ सर्व
 मन बल्लभ ४ अहूर ५ भव भीरु ६ भूखता रहित ७ दा-

(३१)

क्षिप्यता वाला हो ८ लज्जावान् हो ९ दयालु १० मध्य-
स्थ सौम्य दष्टि रखने वाला हो ११ गुणानुरागी १२ स-
त्यवक्ता १३ न्याय पक्षवाला १४ दीर्घदर्शी १५ विशेष वे-
त्ता १६ महान् पुरुषों के अनुगामी १७ विनय गुणवासी
१८ किये हुए उपकार को जानने वाला १९ अन्य हितार्थ
चिन्तक २० लब्ध लक्षी ॥ २१ ॥ उपरोक्त गुण संयुक्त
सुश्रावक होता है. ॥ ३१-३२-३३ ॥

जिनागम की उत्कृष्टता

कथं अम्हारिसा पाणो वृसमा दोसदसिआ ।
ए अणाहा कहं हंता जइ न जिणागमो ॥ ३४ ॥
कुत्रास्मादृशः प्राणिनो, दुःपमदोषदृषिताः ? ।
हा ? अनाथा कथमभविष्य-न्नाऽभविष्यद्यदि
जिनागमः ॥ ३४ ॥

दुपम काल के दोषों से दूषित हमारे जैसे प्राणी क-
हा ? सर्वज्ञ मणीत सक्षम मत्यक्ष, परोक्ष विषयों से भरपूर यदि
जिनागम न होता तो हमारे जैसे अनाथों की हा ? इति

॥ आज्ञा रहित धर्मक्रिया निष्फल ॥

आणाखडणकारी, जइचि तिकाल महाविभूईए
पूणइ वीयराय, सबपि निरर्थक तस्स ॥ ४१ ॥

आज्ञाखडनकारी यद्यपि त्रिकालं महाविभूत्या ।
पूजयति धीतराग, सर्वमपि निरर्थक तस्य ॥ ४१ ॥

अर्थ—जिनाज्ञा विराधक पुरुष अगर महती विभूति
से जिनेन्द्र भगवान् को त्रिकाल पूजन करता है, तदपि उस
पुरुष की आज्ञारहित सब पूजनादि क्रियाएँ निरर्थक हैं,
क्यों की जहा जिसकी आज्ञा ही नहीं मानी जाती उसकी
पूजा विडंबना मात्र है ॥ ४१ ॥

रज्ञो आणाभगे, इक्कुच्चि य होइ निग्गहो लोए
सवन्नुआणभगे, अणतसो निग्गहो होई ॥ ४२ ॥

राज्ञ आज्ञाभगे एकश्चैव भवति निग्रहो लोके ।
सर्वज्ञाज्ञाभगे अनन्तशो निग्रहो भवति ॥ ४२ ॥

अर्थ—इस लोक में राजा की आज्ञा भद्र करने वा-
ला पुरुष एक ही बार दंडित होता है, लेकिन सर्वज्ञ भग-

(३७)

वान् सी आक्षा खंडित करने वाला भवोभव मे कर्मों से
अनन्ती बार दंड पाता है ॥ ४२ ॥

॥ अविधि विधि मे अन्तर ॥

जह भोयणमविहिकय, विणासए विहिकयं
जियावेई ।

तह अविहिकओ धम्मो देइ भव विहिकओमुक्खं
पथा भोजनमविधिकृत, विनाशयेद्विधिकृतं जीवयति
तथाऽविधिकृतधर्मो, ददाति भव विधिकृतो मोक्षम्

अर्थ:—जैसे अविधि से किया हुआ भोजन शरीर
को विनाश करता है. विधि से किया हुआ भोजन शरीर
को पुष्ट करता है. तैसे ही अविधि से किया हुआ धर्म
जन्म, जरा, मरणादि रूप भय रोग को बढ़ाता है. और
विधि से किया हुआ धर्म कर्मरोग से मुक्त कर माणी को
अजरामर-मोक्ष स्थान को देता है ॥ ४३ ॥

॥ अच्य स्तव, भाव स्तव का अन्तर ॥

मेरुस्त सरिसवस्त य, जित्ति यमित्त तु अंतर होई ।

दधत्थयभावत्थय, अतरमिह तित्थिय नेय ॥ ४४ ॥

मेरो सर्पपस्य च, घावन्मात्र त्वन्तरं भवति ।

द्रव्यस्तवभावस्तवयो-रन्तरमत्र तावज्ज्ञेयम् ॥ ४४ ॥

अर्थ — मेरु पर्वत और सरसो के दाने में जितना अन्तर होता है, उतना ही द्रव्य स्तव और भाव स्तव के अन्दर अन्तर जानना, कहा लाख योजन का मेरु पर्वत और कहा सरसो का दाना ? ॥ ४४ ॥

॥ द्रव्य स्तव, भाव स्तव का उत्कृष्ट फल ॥

उष्कोस दधत्थय, आराहिय जाइ अच्चुय जाव ।

भावत्थएण पावइ, अंतमुहुत्तेण निव्वाण ॥ ४५ ॥

उत्कृष्ट द्रव्यस्तव, माराध्य यात्यच्युत यावद् ।

भावस्तवेन प्राप्नो-त्यन्तमुहूर्त्तण निर्वाणम् ॥ ४५ ॥

अर्थ — द्रव्य स्तव को आराधन कर उत्कृष्ट से उत्कृष्ट १२ वे अच्युत नामक देव लोक तक जीय जासकता है। भाव स्तुति करने से अन्तर्मुहूर्त्त में निर्वाण को पाता है. ४५

॥ कैसे गच्छ को त्यागना. ॥

जत्थ य मुणिणो कयवि, कयाइ कुव्वति सज्जम-
ब्भट्ठा ।

तं गच्छं गुणसागर, विसं व दूर परिहरिजा ॥४६॥

यत्र च मुनयः क्रयवि-क्रयार्दि कुर्वन्ति नित्यप्रव्रष्टाः
तं गच्छ गुणसागर ? , विपद्यत् दूरं परिहरेत् ॥४६॥

अर्थः—जिस गच्छ में नित्य साधु धर्म से भ्रष्ट आ-
चार वाले मुनि क्रय, विक्रय (खरीदना, बेचना) करते हैं,
वस गच्छ को हेगुणसागर ? जहर के जैसे दूर से ही
त्याग कर ॥ ४६ ॥

जत्थ य अज्जालच्छं, पडिग्गहमाइय विविहमुवगरणं
पडिभुजइ साहूहिं, त गोयम केरिस गच्छ ॥ ४७ ॥

यत्र चार्यालच्छं, प्रतिग्रहादिक विविधमुपकरणम् ।
प्रतिभुज्यते साधुभिः, स गौतमकीदृशो गच्छः ॥४७॥

अर्थः—जिस गच्छ में आर्याओं के लिए हुए रत्न,
पात्रादि उपकरण साधुओं से भोगे जाते हैं, हे गौतम ?
वह गच्छ कैसा ? अर्थात् वह गच्छ नहीं, गच्छाभास

समक्षना ॥ ४७ ॥

जहि नरिथ सारणा वारणा, य पडियोचना य
गच्छमि ।

सो अ अगच्छो गच्छो, सजमकामीहि मुत्तवो ॥ ४८ ॥

यत्र नास्ति सारणा, वारणा च प्रतिचोदना च गच्छे ।
स चागच्छो गच्छ, संयमकामिभिर्मोक्तव्य ॥ ४८ ॥

अर्थ—जिस गच्छ में सारण देख रेख, वायण-वाच-
ना चोयणा-प्रमादी को प्रेरणा, प्रति चोयणा-बार बार प्रेर-
णा इत्यादि नहीं है वह गच्छ कैसा? अर्थात् कुछ नहीं
अतः संयम के अभिलाषियों को उपरोक्त गच्छ का त्याग
परनाही चाहिये ॥ ४८ ॥

गच्छ तु उवेहतो, कुवड् दीहभवे विहिण्था ।
पालतो पुण सिज्झइ, तइअ भवे भगवई सिद्ध ॥ ४९ ॥
गच्छं तृपेक्षयन्, कुर्यादीर्गं भव विधिना ।
पालयन्पुन सिध्यति, तृतीयभवे भगवत्या सिद्धम् ॥

अर्थ—गच्छ को उपेक्षा-वेदर करी कर तो वह पुरु-

प दीर्घ ससार करे, और विधि पूर्वक गच्छ का पालन करे
तो तीसरे भ्रम ~ सिद्ध पद को प्राप्त करता है. ऐसा भग-
वती छत्र में. फरमाया है. ॥ ४९ ॥

जत्थ हिरन्नसुवन्न, हत्थेण पराणगपि नो छिप्पे ।

कारणसमर्पियपि हु, गोयम गच्छ तय भणिय ॥

घन्नहिरण्यसुवर्णे, हस्तेन परकीयेऽपि नो स्पृशेत् ।

कारणसमर्पितेऽपि हि, गौतम ? गच्छः स भणितः ॥ ५० ॥

अर्थ.—निस गच्छमें बलात्कार से कारण वश किसी अन्य
'क्रे घड़े हुए हिरण्यको और नहीं घड़े हुए सुवर्णको समर्पण
करने पर भी मुनि उन को हस्त से भी स्पर्श नहीं करते हैं
ह गौतम ? वह ही गच्छ कहा जाता है. ॥ ५० ॥

पुढविदगश्चगणिमारुअ-वणस्सइ तहतसाणवि-
विहाण ।

मरणतेवि न पोढा, कीरइ मणसा तय गच्छ ॥ ५१ ॥

पृथ्व्युदकाऽग्निमास्त, वनस्पतीना तथा आसाना वि-
विधानाम ।

मरणान्तेऽपि न पीडा, क्रियते मनसा स गच्छ ॥५१॥

अर्थ—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, ये ५ स्थावर, तैसे ही अनेक प्रकार के हल्ते, चलते उस, उपरोक्त दोनों प्रकार के जीवों को साधु मरणात् कष्ट आने पर भी मन से पीडा न कर तो वचन, बाया से तो कर ही क्या ? अर्थात् त्रिविध २ जीव हिंसा का सर्वथा त्याग कर बह ही गच्छ है ॥ ५१ ॥

मूलगुणैर्हि विमुक्त बहुगुणकलियपिलब्धिसपन्न
उत्तमकुलेषु जाय निष्ठाडिज्जइ तय गच्छ ॥५२॥

मूलगुणैर्विमुक्त, बहुगुणकलितमपि लब्धिसमाप्तम् ।
उत्तमकुलेऽपि जान, निर्घाटयति स गच्छ ॥ ५२ ॥

अर्थ—कोई साधु अन्य बहुत से गुणों से युक्त हो, तथा लब्धि मान् हो, श्रेष्ठ कुल में पैदा हुआ हो मगर वह साधु मुख्य मूल गुणों से भ्रष्ट हो तो उस साधु को गच्छ से बाहिर निकाल दे वह ही सच्चा गच्छ है. [किन्तु भ्रष्टाचारी को दाक्षिण्यना रख कर उस को गच्छ में र-

गवे वह गच्छ उन्नति कारक नहीं बन सकता. उल्टा अव-
 नति कारक बनता है. अतः मूल गुण मिठीन साधु को
 गच्छ से बाहिर सड़े पान की मुआफिक निकाले वह ही
 गच्छ है ॥ ५२ ॥

जत्थ य उसहादिणं, तिथयराण सुरिंदमहियाण।
 कम्मद्वविमुक्काण, आण न खलिज्जइ स गच्छो ॥ ५३ ॥
 यत्र च ऋषभादीना, तीर्थकराणा सुरेन्द्रमहितानाम्
 कर्माष्टविमुक्ताना, माज्ञा न स्पलति स गच्छः ॥ ५३ ॥

अर्थः—जिस गच्छ में अष्ट कर्मों से रहित, और
 इन्द्रो से पूजित, ऐसे ऋषभ देव स्वामी आदि तीर्थरुओं की
 आज्ञा स्वलित नहीं होती है. अर्थात् तीर्थरुओं के आज्ञानु-
 सार वर्तित होता है. वह ही गच्छ है. ॥ ५३ ॥

जत्थ य अज्जाहिं सम, थेरावि न उल्लसति गय-
 दसणा ।

न य झावतित्थीण, अगोवगाइ त गच्छ ॥ ५४ ॥

यत्रचार्याभि सम,स्यविराअपि नोल्लपन्नि गतदशना
 न च ध्यायन्ति स्त्रीणा-भगोपागानि स गच्छ ॥६४॥
 अर्थ —जिस गच्छ मे गिर हुए दात गाले ऐसे वयो वृद्ध
 स्थविर मुनि भी आर्याओं के साथ मे वार्तालाप नहीं कर-
 ते हैं और स्त्रियों के अङ्गोपाङ्ग की तरफ नहीं देखने हैं
 वहही गच्छ है ॥ ५४ ॥

घज्जेइ अप्पमत्तो, अज्जससग्गि अग्गिविससंरिसी
 अज्जाणुचरो साहु, लहइ अकिन्ति खु अचिरेण ५५
 बज्जयत्थप्रमत्त, आर्याससर्गमग्निविपसदृशम् ।
 आर्यानुचर' साधु, लभतेऽकीर्तिं ररवचिरण ॥५५॥

अर्थ —अप्रमानी साधु आर्याओं के ससर्ग को अग्नि,
 विप सदृश समझ कर त्याग कर खोखले आर्याओं के क-
 थनानुसार अनुचर की मुआफिक चलनेवाला साधु निश्च-
 य कर शीघ्रही अवयस को पाता है. ॥ ५५ ॥

॥ शील की पुष्टता ॥

जो देइ कणयकोडिं, अहवा कारेइ कणयजिण
 भवण ।

तस्स न तत्तिय पुन्न, जत्तिय वभवण धरिए ॥५६॥

यो ददाति कनककोटि, मथवा कारयति कनकजि-
नभवनम् ।

तस्य न तावत्पुण्यं, यावद् ब्रह्मव्रते धारिते ॥ ५६ ॥

अर्थः—जो कोई पुरुष सुवर्ण कोटि (कोड सोना, मोहोरो) को दान में देता है, अथवा कोई पुरुष सोने का जिन भवन [जिनेश्वर का मंदिर] करवाता है, उस पुरुष को उतना पुण्य नहीं होता है कि जितना ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने वाले को होता है अर्थात् उपरोक्त दान देनेवाले से तथा सुवर्ण का मंदिर करवाने वाले से भी ब्रह्मचर्य व्रतधारक बड़ा पुण्यशाली कहा गया है. ॥ ५६ ॥

सील कुलआहरण, सील रूप च उत्तम होइ ।

सील चिय पडित्त, सील चिय निरुपम धम्म ॥५७॥

शील कुलआहरण, शील रूप चोत्तम भवति

शीलं चैव पाण्डित्य, शीलं चैव निरुपमो धर्मः ॥५७॥

अर्थ.—शीलही कुलका अलंकार है, शील ही श्रेष्ठ

रूप है. और शील ही सच्चा पाण्डित्य है. और शील ही अनुपम धर्म है. अतः शील [ब्रह्मचर्य, सत्याग्र, सचरित्र] कोही अङ्गीकार करना चाहिये. ॥ ५७ ॥

॥ कुमित्र के ससर्ग कात्याग ॥

वर वाही वर मच्छु, वर दारिद्र्यसगमो ।

वर श्रयणवासो अ, मा कुमित्राण सगमो ॥ ५८ ॥

वरं न्याधि वर मृत्यु, वर दारिद्र्यसगम ।

वरमरणवासश्च, मा कुमित्राणां सगम ॥ ५८ ॥

अर्थ —न्याधि से न्याप्त होना श्रेष्ठ है. मृत्यु को प्राप्त होना अच्छा है दारिद्र्य का सगम करना उत्तम है अद्वी में बसना अच्छा है. मगर कुमित्रों का समागम उदासी नहीं करना चाहिये क्योंकि न्याधि, मृत्यु, दारिद्र्य, अद्वी आदि का सङ्गम एक ही भव में दुःखदायी और कुमित्रों का साहचर्य तो भयो भय में दुःख परपरा को देने वाला होता है. अतः कुसंग तो शीघ्र ही त्याग ने योग्य है ॥ ५८ ॥

अगीयत्थ कुसीलेहिं, सग तिविहेण वोसिरे ।
मुक्खमग्गमि मे विग्घ पहमि तेणगो जहा ॥ ५९ ॥

अगीतार्थ कुशीलः, सग त्रिविधेन व्युत्सृजेत् ।
मोक्षमार्गे इमे विघ्नाः, पथि स्तेनको यथा ॥ ५९ ॥

अर्थः—अगीतार्थ और दुःशीलों का सग त्रिविध-मन, वचन और कायाद्वारा त्याग करे, क्योंकि जैसे रास्ते में चौर विघ्न रूप होते हैं वैसे ही ये मोक्ष मार्ग में उपद्रव करने वाले हैं. ॥ ५९ ॥

उम्मग्गदेसणाए, चरण नासति जिणवरिंदाण ।
वावन्नदसणा खलु, न हु लब्भा तारिस दट्ठुद ०
उन्मार्गदेशनया, चरण नाशयन्ति जिनचरेन्द्राणाम् ।
व्यापन्नदर्शनाः खलु, न हिलभ्य तादृशा दर्शनम् ॥ ६० ॥

अर्थ.—उन्मार्ग देशक अदर्शनीय होते हैं. जो उन्मार्ग देशना-कृत्युक्तिओद्वाग जिनेश्वर भगवान ने फरमाये हुए चारित्र-सदाचार को नाश करते हैं. और जिन्हों का शुद्ध श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन नाश हो गया है, वैसे पुरुष निश्चयकर दर्शन के योग्य नहीं हैं ॥ ६० ॥

॥ ओसना के अनुयायी को योधि दुर्लभ ॥

परिवारपूअहेऊ, ओसन्नाण-च आणुवित्तीए ।

चरणकरणनिगूहई, त दुखह वोहिअ जाण ॥ ६१ ॥

परिवारपूजाहेतवे—ज्वसन्नानामनुवृत्त्या ।

चरणरूपी निगुहति, तदुल्लभयोधिक जानीहि ॥ ६१ ॥

अर्थ —परिवार की पूजा के निमित्त पूर्वोक्त ओस-
न्नाओ के अनुयायी होकर जो चरण सत्तरि और करण
सत्तरि का गोपन-अपलाप करता है, उस पुरुष को योधि-
सम्यक्त्व की प्राप्ति होनी दुर्लभ है ॥ ६१ ॥

दृष्टान्तद्वारा होनाचारिके सगसे सदाचारी में दोषकी पुष्टि

अवस्स य निवस्स य, दूणहपि समागयाइ मूलाइ ।

ससग्गेण विणट्ठो, अबो निवत्तण पत्तो ॥ ६२ ॥

आम्रस्य च निम्यस्य च, दयोरपि समागतानि मूलानि ।

ससर्गण चित्रष्ट, आम्रो निम्यत्व प्राप्त ॥ ६२ ॥

अर्थ —आँवे का मूल और नीम का मूल इन दोनों
के एकरूप होने पर नीम के ससर्ग से आँवा अपने रूप

से नष्ट होकर नीम रूप में परिणमता है. तद्वत् ओसना
हीनाचारी के सयोग से सुशील सदाचारी साधु भी भ्रष्ट
आचार वाला होता है ॥ ६२ ॥

॥ दृष्टांत से दुराचारी के साथी सु साधु भी निन्दनीय होते हैं ॥

पक्कणकुले वसतो, सउणीपारोत्रि गरहिथ्यो होई ।
इय दसणासुत्रिहिथ्या, मज्झि वंसता कुसीलाण ६३

पक्कणकुले वसन् शकुनिपारोऽपि गर्हितो भवति ।
इति दर्शनं सुविहिता, मध्ये वसन्तः कुशीलानाम्

अर्थः—जैसे चंडाण के कुल में वसता हुआ शकुनि-
पारो-त्रेपार गामी ब्राह्मण भी निन्दनीय होता है. वैसे ही
दुःशीलों के मध्यमे रहने वाले सुविहित अच्छे साधु भी
निन्दा के आदर्शभूत बनते हैं ॥ ६३ ॥

॥ उत्तम की सगति में लाभ. ॥

उत्तमजणससग्गो, सील दरिदपि कृणई सीलह ।
जह मेरुगिरि विलग्ग, तणपि कणगत्तणमुवेई ६४
उत्तमजनससर्गः, शीलदरिद्रमपि कृणेति शोलादयम्
यथा मेरुगिरिविलग्न, तृणमपि कनकमयमप्येति ॥ ६४

अर्थ — उत्तम पुरुष का ससर्ग शील रहित पुत्र का भी शील शाली करता है जैसे मेरु पर्वत में लगा हुआ तृण भी सूर्यना को पाता है ॥ ६४ ॥

॥ मिथ्यात्व से बड़े दोष होते हैं ॥

नचि त करेसि अग्नी, नेव तिस नेव किन्हु सप्पो ४
ज कुण्ड महादोस, तिठव जीवस्स मिच्छन्त ६५
नापि तत्त करोत्यग्नि, नंय विप नंय कुण्णसपेच्च ।

यत् करोति महादोष, तीव्र जीवस्य मिथ्यात्वम् ६

अर्थ — तीव्र मिथ्यात्व अतत्त्वप्रदान जीव को जितना महान दोष पैदा करता है, उतना दोष अग्नि, जहर, सर्प भी नहीं करते। उनसे भी बड़प्पर दुःखदायी मिथ्यात्व है। उपरोक्त पदार्थों में एक भयमे दुःख देते हैं, मिथ्यात्व तो भव भवमे दुःख देने वाला है अतः मिथ्यात्वना त्याग करना ही चाहिये ॥ ६५ ॥

॥ मिथ्यात्वके होने पर सत्क्रिया भी व्यर्थ है ।

कट्ट करेसि अप्प, दमेसि अत्थ चयसि धम्मत्थ ।

इक्क न चयसि मिच्छन्त, विसलव जेण बुद्धिहसि ।

रुष्ट करोप्यात्मान, दमयस्यर्थं त्यजसि धर्माधिम् ।

एक न त्यजसि मिथ्यात्व, विपलव येन वर्द्धयसि

(५१)

अर्थ:-कष्ट को करता है, आत्मा को दमता है. धर्म
 लिये द्रव्यका त्याग करता है, लेकिन तालपुट शहर के
 कणिये के जैसे मिथ्यात्वका त्याग नहीं करता है. तो ये
 सब सत्कियाएँ व्यर्थ होती हैं. क्योंकि यह मिथ्यात्व रूप
 शहर चेतना को नाश करता है. और जिससे मूर्च्छित हु-
 आ ससार सागर को भी बढ़ाता है. अर्थात् तिर नहीं
 सकता है. ॥ ६६ ॥

॥ यतनाकी उत्कृष्टता ॥

जयणाय धम्म जणणी, जयणा

धम्मस्स पालणी चेव ।

तववुद्धिकरी जयणी, एगतसुहावहा जयणा ६७

यतना च धम्मजननी, यतना धम्मस्य पालनी चैव ।

मपोवुद्धिकरी यतने-कान्तसुग्गावहा यतना ॥ ६७ ॥

अर्थ:-यतना-त्रिनेक-बुद्धि ही धर्म की माता है,
 यतना-मृक्षम दृष्टि से देख कर की हुई त्रिया ही धर्मकी
 रक्षा करने वाली, यतना सत्यवृत्ति ही तन को वृद्धि क-
 रने वाली है. यतना-आत्माकी अभिमुखता ही एकान्त
 मोक्षमुखको देनेवाली है ॥ ६७ ॥

॥ कषाय का फल ॥

ज अज्जिअ चरित्त, देसूणाइ वि पुव्वकोडीए ।
तं पि कसाइयमित्तो, हारेइ नरो मुहुत्तेण ॥ ६८ ॥
यदज्जित चारित्र, देशेनया ऽपि पूर्वकोटया ।
तदपि कषायितमात्रो, हारयति नरो मुहूर्तं ॥ ६८ ॥

अर्थ —जो पुरुष मुहूर्त ४८ मिनीट मात्र फालतक भी कषाय-क्रोधादि को करता है तो वह देशोन्-मिश्रित न्यून-पूर्वकोटि वर्षोंमें सबन किये हुए चारित्र तप निया आदि सद्गुणान को नाश-निष्फल करता है. ॥ ६८ ॥

॥ ४ कषाय के पृथक् २ फल ॥

कोहो पीडं पणासेई, माणो विणयनासणो ।
माया मित्राणि नासेई, लोहो सव्वविणासणो ।
क्रोध प्रीति प्रणाशयति, मानो विनयनाशन. ।
माया मित्राणि नाशयति, लोभः सर्वविनाशन ६९

अर्थ —क्रोधप्रीतिका नाश करता है, मान विनय को नष्ट करता है. माया मित्रता का विनाश करती है लोभ सबका नाश करता है. ॥ ६९ ॥

(५३)

॥ क्षमाके गुण ॥

खती सुहाण मूल, मूल धम्मस्स उत्तमा खती ।
हरइ महाविज्जा इव, खंती दुरियाइ सब्बाइ ॥ ७० ॥
क्षान्ति. सुग्गाना मूलं, मूलं धम्मस्योत्तमा क्षान्तिः ।
हरति महाविद्यव, क्षान्तिर्दुरितानि सर्वाणि ॥ ७० ॥

अर्थ-सुखका मूल ही क्षमा है. धर्मका मूल भी श्रेष्ठ
क्षमा है. महती विद्या को भँति सब पापों का नाश भी
क्षमा करती है. ॥ ७० ॥

॥ पाप श्रमणका लक्षण ॥

सय गेहं परित्यज्ज, परगेहं च वावडे ।
निमित्तेण य व्यवहरई, पावसमणुत्ति बुच्चई ॥ ७१ ॥
स्वक गृहं परित्यज्य, परगृहं च व्याप्रियते ।
निमित्तेन च व्यवहरति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ ७१ ॥

अर्थ:-जो स्वस्वभारूप अपने घर को त्यागकर पर
भार-पौद्रलिक रूप परगृहमे तन्मयी बनता है. और नि-
मित्त द्वारा व्यापार करता है. वह पाप श्रमण कहा जाता
है. ॥ ७१ ॥

दुद्ध दही विगईओ, आहारेई अभिक्खण ।
 न करेइ तवोकम्म, पावसमणुत्ति बुच्चई ॥ ७२ ॥
 दधिदुग्धे चिकृती, आहारयत्तभीक्षणम् ।
 न करोति तप कर्म, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ ७२ ॥

अर्थ -दूध दही घी तैरु मिठाई आदि विगय-विकार
 वर्धक पदार्थों को पुन. पुन भक्षण करता है. और इच्छा-
 रोधनरूप तप त्रिया नहीं करता है. वह पाप श्रमण कहा
 गया है. ॥ ७२ ॥

॥ ५ प्रमाद सेवनका फल ॥

मज्ज विसय कसाया, निहा विकहा य

पचमी भणिया ।

ए ए पच पमाया, जीव पाडति ससारे ॥ ७३ ॥
 मद्यविषयरूपायौ, निद्रा विकथा च पचमी भणिता
 एते पच प्रमादा, जीव पातयन्ति ससारे ॥ ७३ ॥

अर्थ -मद १ विषय २ कपाय ३ निद्रा ४ और
 पाचरीं विकथा-ये पाच प्रमाद ह. ये प्रमाद अपने वशी
 भूत हुए जीवों को समार मे पटकते हैं अर्थात् प्रमाद क

(८५)

सेवनसे जीव ससार मे परिभ्रमण करते हैं. ॥ ७३ ॥

॥ निद्रासे होती हुई हानि ॥

जइ चउदसपुव्वधरो, वसई निगोएसुऽणतय काल
निद्रापमायवसओ, ता होहिसि कह तुम जीव ७४
यदि चतुर्दशपूर्व'ररो, वसति निगोदेप्वनतरु कालम् ।
निद्राप्रमादचशग-स्ततो भविष्यसि कथं त्वं जीव ? ७४

अथ—यदि चौदह पूर्व'र शुनि भी निद्रारूप प्रमादके
गयी भूत होता है. तो वह भी निगोदमे जाकर अनन्त
कालतरु नियास करता है. तो रे जीव ? तेरी क्या दशा
होगी. अर्थात् जो तु निद्रारूप प्रमादका सेवन करता है.
तो उन निगोदके दुःखों से कैसे बच सकेगा अतः नि-
द्राको छोड़कर द्रव्यभाव से जाग्रत रह. ॥ ७४ ॥

॥ ज्ञान क्रियाकी आवश्यकता ॥

हय नाण कियाहीण, हया अन्नाणओ किया ।
पासतो पगुलो दढ्ढो, धावमाणो अ अधओ ७५
इत ज्ञान क्रियाहीन, इताऽज्ञानतः क्रिया ।
पश्यन्नपि पंगुर्दग्धो, धावमानश्चान्यकः ॥ ७५ ॥

अर्थ—क्रिया रहित ज्ञान नष्ट है, अज्ञान से की हुई क्रिया भी नाश होती है क्यों कि—“ज्ञानस्य फलं विरतिः” परभाव को जानकर भी जो विरक्त नहीं होता है. उसका ज्ञान भी निष्फल है. और अज्ञानी कृत्याकृत्य के भेदको नहीं जानता है. इसलिये उसकी क्रियाभी निरर्थक होती है. दावानल लगे हुये जङ्गलमें देखता हुआ पशु दग्न होता है और दौड़ता हुआ अन्धा भी जलता है. ॥ ७५ ॥

संयोग सिद्धिः फलं वयति,

न ह्येकचक्रेण रहो पर्याह ।

अंधो य पशू य वणे समिच्छा,

ते सपण्डा नगरं प्रविष्टा ७६

संयोगसिद्धिः फलं वदन्ति, न ह्येकचक्रेण रथं प्रयाति
अन्धश्च पशुश्च वनके समेत्य तौ सप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ

अर्थ—ज्ञान पुरुष ज्ञान और क्रिया इन दोनों के संयोग होनेपर परमात्म दशा रूप सिद्धि फलको कहते हैं यह भी ठीक है. क्यों कि एक पर्ये से निश्चय करके रथभी नहीं चलता है. उन्छित नगरमें जाने की इच्छावाला अन्धा और पशु ऐसे दो पुरुष एकत्रित हुए अर्थात् सशक्त

(५७)

अन्धेने पंगु को अपने समेपे बैठाया और पंगु के दिखाये अनुसार मार्गमे दावानल लगे हुए जङ्गल से भयके मारे दौड़ा तो ये दोनो अपने इच्छित नगरमे पहुँच गये वैसेही क्रिया रूप सशक्त अन्ध व्यक्ति और ज्ञानरूप पंगु ये दोनों दुःखरूप दावानल लगे हुए ससाररूप जङ्गलसे एकत्रित हो कर यदि दौड़ें तो अवश्यकर अनन्त अन्यायाध सुखवाले सिद्धिनगरमे पहुँच जाते हैं. ॥ ७६ ॥

॥ चारित्र्यकी प्रागान्यता ॥

सुबहुपि सुअमहीअ किं काही चरणविप्पहीणस्स
अधस्स जह पलित्ता दिवसयसहस्सकोडीओ ७७

सुबहुपि श्रुतमधीतं, किं करिष्यति चरणविप्रहीणस्य
अन्धस्य यथा प्रज्वलिता. दीपशतसहस्रकोटय' ७७

अर्थ — जो पुरुष अत्यन्त ही श्रुत—ज्ञानको पढाई मगर चारित्र्य से रहित है तो उसको ज्ञान किस कामका ? अपि तु कुञ्छ भी मोत्र दायक नहीं बन सकता, जैसे लाखों प्रो-
हो दीपक प्रज्वलित हो रहे हैं. तो भी नेत्र बिहीन पुरुष-
को प्रकाश नहीं देसकते हैं. ॥ ७७ ॥

अप्यपि सुअमहीत्य, पयासग होइ चरणजुत्तस्स ।
इक्कोवि जह पईवो, सचमखुअस्सा पयासेई ७८ ॥

अल्पमपिश्रुतमधीत, प्रकाशक भवति चरणयुक्तस्य
एकोऽपि यथा प्रदीप सचक्षुष प्रकाशयति ॥७८॥

अर्थ — जैसे एक भी दीपक सचक्षु—देखते हुए को
प्रकाश देता है, वैसेही सच्चारिन्वानने पढ़ा हुआ अल्प
भी शुद्धज्ञान प्रकाश करनेवाला होता है. अतः सदाचार
ही ज्ञानका मुख्य भूषण है. ॥ ७८ ॥

॥ आद्यककी ११ प्रतिमाओंका स्वरूप ॥

दसण वय सामाइय, पोसहपडिमा अधभ सच्चित्ते
आरभ पेस उदिट्ठ, वज्जए समणभूए अ ॥ ७९ ॥

दशानव्रतसामायिक-पौषधप्रतिमाऽब्रह्मसच्चित्तम् ।
आरंभप्रेष्योदिष्ट, वज्रक श्रमणभूतश्च ॥ ७९ ॥

अर्थ ॥१॥सम्यक्त्व प्रतिमा-वीतरागीआप्तपुरुषो के कहें हुए
तत्त्वोंमें शुद्ध श्रद्धान जिसका लक्ष्मणउसको सम्यक्त्व कहते
ह उस के ६७ भेद हैं, जिन्हों में सम, सरेग, निर्वेद, अनुस्मया,
और आस्तिवय ये पाचमुख्यभेद हैं इनको कारण करने से जी-

य सम्यक्त्वही होता है। वह राजा, गण, बल, देव, गुरु, और वृत्तिकान्तार इन उद्भूत अनिर्गम्य कारणों की प्रेरणा को पाकर स्वयं प्रतिकृत करने रूप अपवाद को अङ्गीकार करने में दृढ़ रहता है। परन्तु जब से सम्यक्त्व प्रतिमा को करने में श्रावक तत्पर होता है तब तथोक्त राजादि छ अनिर्गम्य कारणों के उपस्थित होने पर भी स्वयं प्रतिकूल क्रिया करनेरूप अपवादको नहीं सेवन करता है। अर्थात् एक मास तक एकान्तर उपास करता हुआ स्वयं में स्थिर रहता है उस समय सामायिक, पौषधादि करने में कोई मुख्य नियम नहीं है, यथा शक्ति करे ॥ २ ॥ २१ प्रतिमा—तथोक्त राजादि छहों से प्रेरित हुआ भी अपवाद को नहीं सेवन करता हुआ निरतिचार तनको पालन करे पहली सम्यक्त्व प्रतिमा की पुर्याक्त विधिको करता हुआ इतना विशेष करे कि दो मास तक छठ २ दो दो उपास से पारणा करे और रोगादि कारणों के उपस्थित होने पर भी निश्चल रहे ॥ ३ ॥ सामायिक प्रतिमापूर्योक्त विधि को

१ सफादिशालधिरहिय सम्महसगजुओ उ जा जत्तु
सेसगुणधिय पमुहा एमा खल्ल हाइ पत्तमा उ ॥ १ ॥

२ दग्गपडिमाजुतो पालेत्तो ऽणुवण निरुद्वारे ।

शानुक्कम्पाणुणजुओ जीयो इह होइ वयपटिमा ॥ ॥

करता हुआ इतना विशेष करे कि रोगादि क होने पर
 तथा देवताओं के उपसर्ग होने पर भी दृढ आसन से द्वा-
 त्रिंशद् दूणों को दूर कर निर्दूषण सामायिक कर तीन
 मास पर्यन्त अष्टम [तीन उपवास] २ पारणा कर ॥
 ॥४॥ पौषधमतिमा—अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों
 में रोगादि कष्ट के आने पर भी निरतिचार पौषध [धर्म
 पुष्टि] को कर चार महीने तक चार २ उपवास से पार-
 णा करे पूर्वोक्तरीति से सम्यक्त्व पाले ॥ ५ ॥ कायोत्सर्ग-
 मतिमा—अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों में पौषध
 कर उस समय अवल होकर कायोत्सर्ग कायव्यापारों का
 त्याग करे इस मतिमा में स्थित श्रायक स्नान विलेपनादि
 का त्याग करे रात्रि भोजन न करे रोगादि के होने पर

३ वरदसण्णवयसुतो रामद्वयं वृणद् जी तिमणाम् ।

उज्जसेण तिमारा एसा सामाद्वयपडिम ॥ ३ ॥

४ पुग्घोदियपडिमत्तुओ, पाल् ३ जा पासह तु सम्पुण्ण ॥

अमि चउद्दसादसु चउरा मसु चउत्था सा ॥ ४ ॥

५ सम्मणुक्कयसुण, वयसिरं वयस धिरा य नाणी य ॥

अमि चउद्दसीसु पडिम एणसाद्वय ॥

आसिणाण वियह मोई, म च्चिक्के दिवस वम्मयारी य ॥

[राद परिमाणकडो पडिमाथउजेसु दिवत्तु ॥

भी रात्रिमें पानी न पीवे और लाघ न दे दिन में ब्रह्मचर्य पाले रात्रि में कुशील का परिमाण करे और पूर्वोक्तानुसार सम्यस्त्व, सामायिक, पौषादि को करता हुआ पाच मास तक पांच २ उपवास से पारणा करे ॥

॥६॥ कुशील त्याग प्रतिमा—दिन और रात्रि में सर्पया स्त्री का त्याग करे छह मास तक छह २ उपवास से पारणा करे और पूर्वोक्त सम्यस्त्व, सामायिक, पौषादि कृत्य करे ॥६॥

॥७॥ सच्चित्त त्याग प्रतिमा—सच्चित्त—जिस में जीव है, ने-सी कोई भी चीज न खावे और कच्चा पानी तक न पीवे उपर बताई हुई सम्पूर्ण विधि भी आचरण करे सात मास तक सात २ उपवासांसे पारणा करे ॥

हायइ पत्रिमाण ठिओ तिलाय पुजे जिणे जियकसाण ।

नियदोउपवणीय कण्ठा या पञ्च जा मासा ॥ १ ॥

६ पुव्यादिय गुणनुत्तो विसेठओ विजियमाइणिजो य ।

थउजइ अयम्म मेगन्तओ थ, रुइ पि विरचितो ॥ १ ॥

सिद्धारकहाविरमा, इधीए सम रहम्मि ना छइ ।

चय ॥ धाण्यपत्र, तहा विभूमय उक्कास ॥ २ ॥

पथ जा छम्मासा एओइहिगओ उ इयरहाइइ ।

जायज्जीय पि इम थउजइ पयम्मि लगम्मि ॥ ३ ॥

७ सच्चित्त आहारं बध्द, अमणादय निरवसेत् ।

सेसययसमाउत्तो—जा मासा सत्त विहिपुञ्च ॥ ७ ॥

॥८॥ आरम्भ त्याग प्रतिमा-अपने हाथ से आरम्भ-पापमय आचरण न कर आज्ञा देने में छूट रहती है पूर्वोक्त सात प्रतिमाओं की सम्पूर्ण विधि को करता हुआ आठ मास तक आठ उपवास से पारणा कर ॥

॥९॥ प्रेष्य वर्जन प्रतिमा-दास, दासी स्त्री, पुत्र, मित्रादि किसीको भी आदेश निर्देशकर आरम्भ को न कराने का निमित्त की हुई रसोई का ही भोजन कर कहकर रसोई न करावे। तथोक्त आठ प्रतिमा की सम्पूर्ण विधि को करता हुआ नव मास तक नव उपवास से पारणा कर १० उद्विष्ट त्याग प्रतिमा-अपने निमित्त पराई हुई रसोई भी न खावे दूसरों के लिये पराये हुए भोजन का ही आहार करे क्षुर मुण्डन करावे फक्त एक चोटी ही रखे, दो भापा बोले-जानी हुई वस्तु को जानी रहे, अजानी को

८ यज्जइ तयमारम्भ साधज्ज कारवेइ पेवेहि ।

वित्तिनिमित्त पुण्डवय गुणजुत्तो अइ जा मत्ता ॥

९ पेवेहि आरम्भ साधज्ज, कपवद नो गुण्य ।

पुण्डवय गुणजुत्ता नयमत्ता जात्र विहिणा उ ॥

१० उद्विष्टवद मत्तापि यज्जय किमुय सेसमारम्भ ॥

सा होइ उ बुरमुण्डा, सिंहलि या धारए कोइ ॥

दठथ पुत्ता जाण पाणे इइ कपवद नो य ना वत्ति ।

मैं न जानूँ ऐसा कहे पूर्व की कही हुई सब विधि को करता हुआ दश मास पर्यन्त दश २ उपवास से पारणा करे.

॥११॥ श्रमण भूत प्रतिमा-साधु का वेस-रजोहरण, मुखमस्त्रिका पात्रादिको को धारण करे. धुंसर प्रमाण दृष्टि से देख कर यतना पूर्वक चले गृह, स्त्री, पुत्रादि परिवार से स्नेह न रखे निस्सङ्ग होकर खाने के निमित्त उचित घरों में जाकर मैं प्रतिमाधारी श्रावक हूँ मुझे भिक्षा दो इस प्रकार आहार की याचना करे. क्षुर मुण्डन या हाथों से लुञ्चन करे करारे ग्यारह मास पर्यन्त उपर्युक्त दशों ही प्रतिमाओं की विधि सेवन करता हुआ ग्यारह २ उपवास से पारणा करे ॥ ये श्रावक की ग्यारह प्रतिमायें हैं ॥ ७९ ॥

सपत्तदसणाई, पईदियह जइजणाओ निसुणेई ।
सामायारिं परम, जो खलु त सावग वित्ति ॥८०॥
मप्रासदर्शनादि प्रतिदिवसं यतिजनेभ्यो नि शृणोति
सामाचारी परमा, य. खलु त श्रावक ब्रुवन्ति ॥८०॥

पुत्रादिय गुणवृत्तौ, दस भागा वाउ माणण ॥

११ गुरुमुण्णे लोण्णं च रयहरण भोग्गं च चत्तुणं ।
समणन्धूओ विहरह, धम्मं ब्राण्ण फसेन्तो ॥

एव उक्कसोण, णवकारस मास अथ विहरेह ।

एवकाहाइपरेण, एव सव्वत्थ पाएण ॥

अर्थ.—सम्यक् प्रकार से प्राप्त की है सम्यक्त्व आदि प्रतिमाएँ जिस ने ऐसा जो हमेशा साधु जन के पास से उत्कृष्ट समाचारी को छुनता है उस को निश्चयस्वरूप ज्ञानी आत्मपुरुष श्रावक कहते हैं ॥ ८० ॥

जहा खरो चदणभारवाही,

भारस्सभागी न हु चदणस्स ।

एव खु नाणी चरणेण हीणो

भारस्सभागी न हु सुगईए ८१

यथा गरुडचन्दनभारवाही भारस्स भागी न हि चंदनस्य गच्छ हि ज्ञानी चरणेण हीनो भारस्स भागी न हि सद्गते

अर्थ.—जैसे चन्दन के काष्ठको ढींरुने वाला गद्धा मात्र चन्दन के भार को ही उठाता है लेकिन उस में रही-हुई उत्तम सुगन्धी का वह भोक्ता नहीं होता है. तद्वत् चारित्र्य से रहित ज्ञानवान् साधु ज्ञान का पर्यया मात्रही है अर्थात् उस के लिये ज्ञान भार रूप ही है अतः सदाचार विहीन वह सद्गति का पात्र नहीं बन सकता है. ॥ ८१ ॥

तहि पचिन्दिआ जीवा, इत्थीजोणीनिवासिणो ।

मणुआण नवलम्खा, सब्बे पासेई केवली ॥ ८२ ॥

तत्र पञ्चेन्द्रिया जीवाः, स्त्रीयोनिनिवासिनः ।

मनुष्याणां नवलक्षाः, सर्वान् पश्यति केवली ॥८२॥

अर्थः—तीनों काल में परिणामन स्वभावी, तीनलोक के व्यापी अनन्त धर्मात्मक पदार्थों को हवेली में रहे हुए ओवलेकी तरह अनन्तानन्त विषयी केवल ज्ञान द्वारा जो प्रत्यक्ष रूप से देख रहे हैं वेही तीर्थकर परमात्मा परभावमें पड़े हुए भव्य जीवों को सदुपदेश द्वारा हेय, होय, उपादेय स्वरूप वाले तथोक्त पदार्थों के स्वरूप का बोध देते हैं। कि हे भव्यजीव ? जिस स्थान से तेरा प्रादुर्भाव हुआ है। अर्थात् तेरे इस वर्तमान मनुष्य रूप पर्याय की जो आदि भूमिका है। उस की तू सश्रम दृष्टि से गवेषणा कर और जान कि वह भूमी कितनी अशुचि से भरी हुई है और उस भूमिका में तेरा साथ में पैदा होने वाले भाई [सहज] कितने हैं हे भव्य जीव ? तू कर्म रूप ढगो से ढगाया हुआ सम्यग् ज्ञान रूप चक्षु विहीन होने से यदि उन भाइयोंको [जीवोंको] नहीं देख सकता है तो जरा सावधान होकर कानों से तो सुनले हे भाई ? उस भूमिका के निवासी, पाच इन्द्रिय वाले, असन्नि मनुष्य पर्याय वाले, नर लास जीव हैं उन सगो को कर्म रूप ढगो से दूर हुए

कर्मोन्मुक्त केवली परमात्मा देखते हैं ॥ ८२ ॥

इत्थीण जोणीसु, हवति वेइदिया य जे जीवा ।

इक्को य दुन्नि तिन्निवि, लखपहुत्त तु उक्कोस ८३

म्मीणा योनिषु, भवन्ति द्वीन्द्रियाश्च ये जीवा ।

एकश्च द्वौ वा त्रयोऽपि, लक्षपृथक्त्वं तृत्तृष्टम् ॥ ८३ ॥

अर्थ — हे भव्य जीव ? उस ही भूमिका में दो इन्द्रिय वाले जो जीव हैं उन की सङ्ख्या एक दो तीन अथवा उत्तृष्ट लाख पृथक्त्व-दोन्नाख से नव लाख तक होती है ॥ ८३ ॥

पुरिसेण सहगयाए, तेसिं जीवाण होइ उदवण ।

वेणुअ दिट्ठतेण, तत्ताइ सिलागनाएण ॥ ८४ ॥

पुरपेण सहगताया-स्तेषा जीवानां भवत्युपद्रवणम् ।

वेणुक दृष्टान्तेन, तस्मात् शलाकाज्जातेन ॥ ८४ ॥

अर्थ — रईस भरी हुई वास की नली में तपाई हुई लोह की शलाका ढालने से जैसे रई जलकर भस्म हो जाती है वैसे ही है भव्य जीव ? उस तेरी मनुष्य पर्याय की आदि जन्मभूमि में पूर्वोक्त कहे हुए जीव [तेरे भाई] उस

भूमिका के साथ पुरुष का संघट्ट होने से नाश होते हैं. ८४
 इत्थीण जोणिमज्झे, गच्छमगयाइ हवति जे जीवा
 उत्पज्जति चयति य, समुच्छिमा असखया भणिया
 स्त्रीणां घोनिमध्ये, गर्भगता भवन्ति ये जीवाः ।
 उत्पन्नन्ते चयवन्ति च समुच्छिमा असंख्याता भणिता

अर्थ—हे मुमुक्षो ! तथोक्त भूमिका के गर्भ में रह
 हुए जो जीव हैं वे उत्पन्न होते हैं चरते हैं [नाश होते हैं.]
 और समुच्छिम [अपने आप ही पैदा होनेवाले] भी अस-
 ख्य कहें ॥ ८५ ॥

मेहुणसन्नारूढो, नवल्लख हणैइ सुहुम जीवाण ।
 तित्थयरेण भणिय, सदहियव्व पयत्तेण ॥ ८६ ॥

मैद्युनसन्नारूढो, नवल्लक्षान् हन्ति सूक्ष्म जीवानाम् ।
 तीर्थकरेण भणित श्रद्धातव्य प्रयत्नेन ॥ ८६ ॥

अर्थ:—मैद्युन मन्ना में आरूढ अर्थात् इन्द्रिय विष-
 यों की पूर्ति के निमित्त स्त्रियों के साथ संघट्ट रखने वाला
 पुरुष पशु क्रिया करने के समय नौ (नव) लाख जीवोंका
 नाश करता है. यह तीर्थकरो ने कहा है उस को प्रयत्न से

श्रद्धावान् वग्ना इी चाहिये ॥ ८६ ॥

असखया थी नर मेहुणाओ

मुच्छति पचिदिय माणुसाओ

निसेस अगाण विभत्ति चगे

भणई जिणो पद्मवणा उवगे ॥ ८७ ॥

असख्याता. स्त्रीनरमैथुनतो,

मूर्च्छन्ति पञ्चन्द्रियमनुष्या ।

नि शोषाङ्गाना विभक्तिचगे

मणति जिन प्रज्ञापनोपाङ्गगे ॥ ८७ ॥

अर्थ—स्त्री और पुरुष के मैथुन से असख्याते सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय मनुष्य उत्पन्न होते हैं ऐसा अशेष [द्वादश] अङ्गों में जीवाजीवादि (उत्पाद, व्यव, धौव्य युक्त सत्त्व) ऐसे लक्षण वाले द्रव्यों के वर्णनों से मृशोभित ऐसे प्रज्ञापना उपाङ्ग में राग, द्वेष रूप अन्तरङ्ग शत्रुओं को जिने हैं जिन्होंने ऐसे जिन भगवानोंने स्पष्ट रूप से कहा है ८७ मज्जे महुसि मसमि, नवणीयमि चउत्थए ।

उप्पज्जति असखा, तव्वन्ना तत्थ जत्तुणो ॥ ८८ ॥

(६९)

मद्ये मधुनि मासे, नयनीते चतुर्थके ।

उत्पद्यन्तेऽसख्या, स्तद्वर्णा स्तत्र जतव ॥ ८८ ॥

अर्थः—मदिरा मे, सहत मे मास मे चीये मकखनमें
उम २ रग गाले असंख्याने जीव यहाँ उत्पन्न होते है ८८

आमासु अ पक्षासु अ, विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।

सयय चिय उववाओ भणिओ अ निगो अ जीवाण

आमासु च पखासु च, विपच्यमानासु मासपेगीपु
सतत मेरोपपातो, भणितश्च निगोदजीवानाम् ८९

अर्थः—अपरिपक्व [रून्चे] मांस में तथा परिपक्व
[पस्के हुए] मास मे पकी हुई मास की पेगी के अन्दर
हमेशों निगोदिए जीवों की उत्पत्ति कही है ॥ ८९ ॥

॥ व्रत भग करने का फल ।

आजन्म ज पाव, वधइ मिच्छत्त सजुओ कोई ।

वयभंग काउमणो, वधइ त चेव अट्ठगुण ॥ ९० ॥

आजन्म यत्पाप, वध्नाति मिथ्यात्वसंयुक्तः कोऽपि
व्रतभङ्ग कतुमना, वध्नाति तच्चैराष्टगुणम् ॥ ९० ॥

अर्थ—मिथ्यात्व सहित कोई प्राणी जन्म से लेकर यास्त

अन्तिम करत पर्यन्त जितना पाप याघता है, उस से आठ गुना पाप उत्पन्न करने का मन करने में वांछता है क्योंकि कहा है 'मन एव मनुष्याणां कारण बन्ध मोक्षयोः' मनुष्यों के कर्म बन्धन का कारण मन ही है और कर्म से मुक्त होकर मोक्ष में जाने का कारण भी मन ही है. अतः मन की परिणति को सदैव ही शुद्ध रखनी चाहिये ॥ ९० ॥

सप्तसहस्राणां नारीणां, पि काण्डेऽनिग्धिणो ।
सत्तप्तमासि ए गब्धे, तत्फडते निकत्तइ ॥ ९१ ॥

शतसहस्राणां नारीणां—शुद्धर स्फोटयति निर्धृणः ।
सप्ताष्टमासिक गर्भं, कम्पमानं निकृन्तति ॥ ९१ ॥

त तस्स जत्तिय पाव, त नवगुणिय मेलिय हुआ ।
एगित्थिय जोगेण साहु वधिज्ज मेहुणत्थो ॥ ९२ ॥

तत्तस्य यावत्क पाप, तन्नवगुणितमेलित भवेत् ।
एकस्त्रियाश्च योगेन, साधु बध्नाति मैथुनतः ॥ ९२ ॥

अर्थ—कोई निष्ठुर निर्दय परिणामी अधमाधम मनुष्य एक लाख गर्भवती स्त्रियों के पेट को शस्त्रों से चीरता है. उन में से निकले हुए और तड़पने हुए बच्चों को मा-

रता है. उस प्राणी को जितना पाप लगता है. उस से नव गुना पाप एक वरन स्त्री के संयोग द्वारा कुशील के सेवन करने से साधु वायता है. ॥ ९१ ।-॥ ९२ ॥

॥ किस के पास सम्यक्त्व ग्रहण करना ॥

अखण्डीयचारित्तो व्रतधारी जो ब होइ गीहस्थो ।

तस्स सगासे दसण,—वयग्रहण सोहिकरण च ९३

अग्रण्डितचारित्र्यो, व्रतधारी यो वा भवति गृहस्थ.

तस्य सकाशे दर्शन—व्रतग्रहणं शोधिकरणं च ९३

अर्थ —अग्रण्डित चारित्र्यान् साधु हो, या व्रतधारी श्रावक हो उस के पास मे सम्यक्त्व तथा व्रतग्रहण करना चाहिये और पाप शोधन रूप आलोचन तप भी ग्रहण करना चाहिये ॥ ९३ ॥

॥ स्थावर में जीव प्रमाण ॥

अद्रासलय प्रमाणे, पृथ्वीकाए हवति जे जीवा ।

त पारेवय मित्ता, जवूदीवे न मायति ॥ ९४ ॥

आद्रासलयप्रमाणे, पृथ्वीकाये भवन्ति ये जीवा ।

ते पारापतमात्रा, जंयूद्विपे न मान्ति ॥ ९४ ॥

अर्थ —आद्र [लीला] आंखला प्रमाण पृथ्वी काय के अन्दर जो जीव होते हैं. वे प्रत्येक कवृतर जितना शरीर

धारण करें तो एक लाख योजन के जंजु द्वीप में नहीं माते हैं।
 एगमि उदगविंदुमि जे जीवा जिणवरेहि पक्षता
 ते जइ सरिसखमिता, जवूदीवे न मायति ॥९५॥
 एकस्मिन्नुदकविंदौ, ये जीवा जिनवरे' प्रक्षप्ताः
 ते यदि सर्पपमात्रा, जवूदीपे न मान्ति ॥ ९५ ॥

अर्थ—एक जलके बिन्दु में जो जीव जिनेश्वर भग-
 वान् ने मर्हण किये हैं व अगर सरसों के दाने जितनी
 फाया करे तो जवुद्वीप में नहीं मासकते हैं ॥ ९५ ॥

वरटतदुलमिता, तेउकाए हवति जे जीवा ।
 ते जइ खसखसमिता, जवूदीवे न मायति ॥९६॥
 वरटतन्दुलमात्रे, तेजस्काये भवन्ति ये जीवा ।
 ते यदि रसखसमात्रा, जवूदीपे न मान्ति ॥ ९६ ॥

अर्थ—गुजरात आदि देशों में होते हुए बड़ी (घा-
 न्यविशेष) के तन्दुल के जितने तेउकाय-अग्नि काप के
 कण में जो जीव होते हैं, व यदि रस खस के दाने जित-
 नी देह को धारण करे तो जवुद्वीप में नहीं माते हैं, ९६
 जे लिखपत्तमिता, बाजकाए हवति जे जीवा ।
 त मत्थयलिखमिता, जवूदीवे न मायति ९७

यस्मिन् निम्बपत्रमात्रे, वायुकाये भवन्ति ये जीवा.
ते मस्तकलिक्षामात्रा, जंबूद्वीपे न मान्ति ॥ ९७ ॥

अर्थ:—जीस नीम्ब के पत्ते जितने वायु काय में जो जीव रहे हैं. वे जीव माये की लीख जितनी काया करें तो जंबु द्वीप में नहीं मानते हैं. ॥ ९७ ॥

असुइठाणे पडिया, चपकमाला न कीरइ सीसे
पासर्थाई ठाणे, सुवट्टमाणो तह अपुडजे ॥ ९८ ॥

अशुचिस्थाने पतिता, चपकमाला न क्रियते शीर्षे ।
पार्श्वस्थादिस्थानेषु, वर्त्तमानस्तथाऽपूज्यः ॥ ९८ ॥

अर्थ:—जैसे अशुचि (अशुचि] जगह में गिरी हुई चपे के पृष्ठी की माला मस्तक पर धारण नहीं की जाती है. तैसे ही पूर्वोक्त पासर्थादि के स्थान में बसने वाला (पासमें रहने वाला) साधु भी वन्दन के लायक नहीं है छट्ठम दसम दुवालसेहिं, मासद्धमासखमणेहिं
इत्तोउ अणेगगुणा, सोहा जिमियस्स नाणिस्स
पट्ठाष्टमदशमद्वादशै, मांसार्द्धमासक्षपणैः ।
एतेभ्यस्त्वनेकगुणा, शोभा जिमितस्य ज्ञानिनः ९९

अर्थ:—अज्ञानी मनुष्य ० उपवास १ उपवास ४
 उपवास ५ उपवास पक्ष क्षण-(१५ उपवास) मासक्षण
 इन उपरोक्त तपस्या करने से जितना शोभता है, उस से
 ज्ञानी मनुष्य हमेशा आहार करता हुआ भी अनेक गुनी
 शोभा का पात्र बनता है.

ज अघ्राणि कम्म, खवेइ बहुआइ वासकोडीहिं
 तघ्राणी तिहिंयुत्तो, खवेइ उस्सासमिसेण १००
 पदज्ञानी कर्म, क्षपयति बहुभिर्वपकोटीभि ।
 तज्ज्ञानी धिभिर्गुप्त , क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण १००।

अर्थ —अज्ञानी मनुष्य बहुत कोड़ों वष पर्यंत जितने
 कर्मों को क्षय करता है उतने कर्मों को ज्ञानी पुरुष तीन
 गुप्ति-मन, ध्वन, काया के गोपन (वश) करने से एक
 श्वासोश्वास में क्षपाता है. ॥ १०० ॥

॥ देव द्रव्य रक्षण का फल. ॥

जिवपवयणवुद्धिकर, पभावग नाणदसणगुणाण
 रक्खतो जिणदव्व, तित्थयरत्त लहइ जीवो १०१

(७७)

दुष्कृत्य रूप अग्निको प्रक्षेपण करता है. ॥ १०४ ॥

॥ पूजा करने का बड़ा फल. ॥

सुव्वइ दुग्गयनारी, जगद्गुरुणो सिन्दुवारकुसुमेहिं
पूआपणिहाणेण, उप्पन्नातियसलोगमि ॥ १०५ ॥

श्रूयते दुर्गतनारी, जगद्गुरोः सिन्दुवारकुसुमैः ।
पूजाप्रणिधाने—नोत्पन्ना त्रिदशलोके ॥ १०५ ॥

ऐसा सुना जाता है, कि दारिद्र्य धारिणी एक स्त्री
सिन्दुवारके पुष्पों से जगद्गुरु परमात्मा की पूजा करने
के प्रणिधान—मनवचन, काया की एकाग्रतासे देवलोक में
उत्पन्न हुई. ॥ १०५ ॥

॥ गुरु चन्दन का फल ॥

तित्थयरत्त सम्मत्त-खाइय सत्तमी तईयाए ।
साहुण वदणेण, वद्ध च दसारसीहेण ॥ १०६ ॥
तीर्थकरत्वं सम्यक्त्वं, क्षायिकं सप्तम्यास्तृतीयायुः
साधुना चन्दनेन, बद्धं च दशार्हसिंहेन ॥ १०६ ॥

अर्थ,—तीर्थरूपना. क्षायिकं सम्यक्त्वं. सातमी नरक से
तीसरी नरक के आयुष्यका बंधन येतीनों कृष्णवासुदेवने गुरु

भक्षयति य उपेक्षते, जिनद्रव्य तु श्रावक
प्रज्ञाहीनो भवेज्जीवो, लिप्यते पापकर्मणा ॥ १०३ ॥

अर्थ:-जो श्रावक देवद्रव्य को खाता है -[हडप करता है] और जिन द्रव्य की उपेक्षा-(बेदरकारी) करता है तो वह जीव धुद्धि^{हूँ} होता है. हुये और पाप रूप कीचढ से लिपाया जाता है ॥ १०३ ॥

॥ ४ षडे दुष्कृत्योंका त्याग करना ॥

चेइश्चदढवविणासे, रिसिघाए पवयणस्सउड्डाहे।
सजइचउत्थभगे, मूलग्गी वोहिलाभस्स ॥ १०४ ॥

चैत्यद्रव्यविनाशे, ऋषिघाते प्रवचनस्योड्डाहे ।
सयतीचतुर्थभगे, मूलाग्निर्बोधिंलामस्य ॥ १०४ ॥

अर्थ -चैत्य-देवद्रव्य का नाश करने वाला, मुनि को मारने वाला, और सिद्धान्तों के वाक्यों को लोपने वाला तथा साध्वी का चतुर्थ महाव्रत-ब्रह्मचर्य [शील] व्रत का खण्डन करने वाला इन उपरोक्त ४ दुर्गुणों को धारण करने वाला सम्यग्त्व लाभ रूप वृक्ष क मूल को नष्ट करने के लिये

(७७)

दुष्कृत्य रूप अग्निको प्रक्षेपण करता है. ॥ १०४ ॥

॥ पूजा करने का बड़ा फल. ॥

सुव्रह्म दुग्गयनारी, जगद्गुरुणो सिन्दुवारकुसुमेहिं
पूआपणिहाणेणं, उत्पन्नातियसलोगमि ॥ १०५ ॥

श्रूयते दुर्गतनारी, जगद्गुरोः सिन्दुवारकुसुमैः ।
पूजाप्रणिधाने-नोत्पन्ना त्रिदशलोके ॥ १०५ ॥

ऐसा सुना जाता है. कि दारिद्र्य धारिणी एक स्त्री
सिन्दुवारके पुष्पों से जगद्गुरु परमात्मा की पूजा करने
के प्रणिधान—मनवचन, काया की एकाग्रतासे देवलोक में
उत्पन्न हुई. ॥ १०५ ॥

॥ गुरु वन्दन का फल ॥

तित्थयरत्त सम्मत्त-खाइय सत्तमी तईयाए ।
साहुण वदणेणं, वद्ध च दसारसीहेण ॥ १०६ ॥
तीर्थकरत्त सम्यक्त्व, क्षायिक ससम्यास्तृतीयायुः
साधूना वन्दनेन, बद्ध च दाशार्हसिंहेन ॥ १०६ ॥

अर्थ,—तीर्थकरपना. क्षायिक सम्यक्त्व. सातमी नरक से
तीसरी नरक के आयुष्यका बंधन येतीनों ७

भक्षयति य उपेक्षते. १. ५६ ॥ १०६ ॥

प्रज्ञाहीनो भवेत्, अन्तराल का स्थापन ॥

अर्थ.—दूर उन्माद, विरयाविरयाण

है] और

५. १७७७

नह ज

पाठ स्मरणकरणे, दृढवत्थ ए कूगदिदुतो ॥ १०७ ॥

अकृतस्मरणवत्तकानां विरताऽविरतानामेष

स्मरणानुकरणे, द्रव्यस्तवे कृपदृष्टान्त ॥ १०७ ॥

अर्थ.—धर्म कार्योंमें संपूर्ण प्रवृत्ति नहीं करने वाले
भारत होते हैं. उनको दीर्घ संसारको अत्यन्त लघु मनाने
लिने यह द्रव्य स्तर अंगीकार करने योग्य है उस विषय,
हृद का दृष्टान्त समझना. ॥ १०७ ॥

॥ क्रोधका फल. ॥

भणधोव वणधोव, अग्नी

न ह ते विससिभव, थो

भणस्तोकं भणस्तोक.

न हि तस्मिन्विससितव्यं.

अर्थ.—कलकर्म देना

(७९)

अल्प हो कपाय कमहो तोभी इन सरोँ का विश्वास नहों
ही करना चाहिये क्यों कि ये अल्प भी अग्निकर जल्दी
होजाते हैं. अतःइन का विश्वास नहीं करना चाहिये॥ (७८

॥ मिथ्या दुष्कृत का प्रवर्त्तन ॥

जं दुक्कडति मिच्छा, त भुज्जो कारण अपूरंतो ।
तिविहेण पडिक्कतो, तस्स खलु दुक्कड मिच्छा १०९

यद्दुष्कृतमिति मिथ्या, तद्भूयः कारणमपूरयन् ।
त्रिविधेन प्रतिक्रामन्, तस्य खलु दुष्कृतमिथ्या १०९.

अर्थ: जो दुष्कृत्य को मिथ्या-निष्फल करे. और उस-
दुष्कृत्य के कारण को फिर पीछा सेवन- आचरण न करे
और त्रिविध-मन, वचन काया द्वारा प्रतिक्रमे अर्थात् उस पाप
से हटे. उस को निश्चय कर सच्चा मिथ्या दुष्कृत कहा है न
कि कुमार के धमकाये हुए एक छुल्लक साधुने बारंबार
मिथ्या दुष्कृत दिया. और वैसे ही फिर कंकर पत्थर डा-
लता रहा. ऐसे मिथ्या दुष्कृत देनेवाले पापोंसे कभी भी
मुक्त नहीं होते हैं. ॥ १०९ ॥

ज दुष्कडति मिच्छा, त चेव निसेवइ पुणो पाव ।
 पच्चक्खमुसावाई, मायानियडिप्पस गो अ ११०
 यद्दुष्कृतमिति मिथ्या, तच्चैव निषेवते पुन' पापम् ।
 प्रत्यक्षमृषावादी, मायानियडिप्पसगश्च ॥ ११० ॥

अर्थ—जो दुष्कृत्य को मिथ्याकर उस ही पाप के कारण को पीछा अङ्गीकार करे उस प्राणी को प्रत्यक्ष मृषावादी और घनिष्ठ कपट मसह्री जानना ॥ ११० ॥

॥ “मिच्छामिदुष्कड” इसवाक्य का अक्षरार्थ ॥
 मिति मिउ मद्भवत्ते छत्तोदोसाण छायेणे होई ।
 मि तेअ मेराइडिओ, दुत्ति दुग्छामि अप्पाण १११
 मीति मृदुर्मादिवत्त्वे, च्छेति दोषाणाच्छादने भवति
 मीति च मर्यादास्थितो, दु इति दुर्गेच्छाम्यात्मानम्
 कर्त्त कड मे पाव, डत्तिय देवेमि त उपसमेण ।
 एसो मिच्छादुष्कड, पयक्खरत्थो समासेण ॥ ११२ ॥
 फरेति कृत मे पाप, डेति च दहामि तदुपशमेन
 ण्ण मिथ्यादुष्कृत, पदाक्षरार्थ. समासेन ॥ ११२ ॥

अर्थ—“मि” मृदु-कोमलताके अन्दर रहे हुए ” ‘च्छा’
 दोषों को आच्छादित-ढकनेके नाम्ने “मि” मर्यादामें स्थित
 रहने के लिये ‘हु’ आत्मा के साथ मे अनादि काल से
 रहे हुए कर्म जन्य दुर्गुण उनकी दुगंछा-धृणा (ग्लानि)
 करता हुं “क्क” मेर किये हुए पापों को “हं” उपशम
 द्वारा जलाकर भस्मी भावकरूं. उपरोक्त प्रकार मिच्छामि
 दुक्कहं” इस वाक्य के प्रत्येक अक्षरों का अर्थ संक्षेप से
 जानना ॥ १११—११२ ॥

॥ चार प्रकार के तीर्थ का वर्णन ॥

नाम ठवणातिथ, दव्वतिथ च भावतिथ च ।
 इक्किक्कमि य इत्तो, ऽणेगविह होई नायव्व ॥११३॥
 नाम स्थापनातीर्थ, द्रव्यतीर्थ च भावतीर्थ च ।
 एक्ककस्मिन् चा—नेकविध भवति ज्ञातव्यम् ॥११३॥
 अर्थ.—नाम तीर्थ. स्थापना तीर्थ. द्रव्य तीर्थ और
 भाव तीर्थ ये चार भेद तीर्थ के हैं इनमें प्रत्येक तीर्थ के अ-
 नेक २ भेद होते हैं वे जानने चाहिये. ॥ ११३ ॥
 ॥ द्रव्य तीर्थका स्वरूप ॥

दाहोपशम तद्वाइ ठेयण, मलपिवाहण चेव ।

तिहिं अत्थेहिं निउत्त, तम्हा त दव्वञ्चोत्तिथ ११४

दाहोपशम तृणादि, च्छेदन मलप्रवाधनं चैव ।

त्रिभिरर्थेनियुक्त, तस्मात् तद्द्रव्यतस्तीर्थम् ॥ ११४ ॥

अर्थ—दाह को उप शमाना तृपादि को छेदन करना और मेल बगेरह को दूर करना इन तीन अर्थों से युक्त हो तिस कारण से उस को द्रव्य तीर्थ कहा है. ॥ ११४ ॥

॥ भाव तीर्थ का स्वरूप ॥

लोहमिउ निग्गहिण, दाहस्स

उवसमण हवउ तित्थ ।

लोहमिउ निग्गहिण, तद्वाए ठेयण होई ॥ ११५ ॥

अट्टविह कम्मरय, बहुएहिं भवेहिं सचिय जम्हा ।

तवसजमेण धोवइ, तम्हा त भावअत्तिथं ॥ ११६ ॥

क्रोधे तु निगृहीते, दाहस्योपशमनं भवति तीर्थम् ।

लोभे तु निगृहीते, तृणायां छेदनं भवति ॥ ११५ ॥

अष्टविधे कर्मरजो, बहूमिमये. सचिन यस्मात् ।
तप. संयमेन ध्रुवति तस्मात् तत् भावनम्नीधम्

अर्थ — क्रोध का निग्रह करने से दाह का उपशम स्-
प तीर्थ होता है. लोभ का निग्रह करने से तृणा छेदन स्-
प तीर्थ होता है. अनेक भवों से सचित अष्ट प्रकार के कर्म-
रूप रज है. उन को तप संयम द्वारा मोता है. या. दूर
करता है जिस कारण से उन को भाव से तीर्थ कहा है. ११५-६
दसर्णनाणचरित्ते-सु निउत्त जिणवरं हि सव्वेहि ।

एएण होइ तित्थ, एसो अन्नोवि पज्जाओ ॥११७॥

दर्शनज्ञानचारित्र्ये-पु नियुक्त जिनवरं. सर्वः ।

एतेन भवति तीर्थ-मेव अन्योऽपि पर्यायः ॥११७॥

अर्थ—इस ही लिये सब जिनेश्वरोंने ज्ञान दर्शन और
चारित्र के अन्दर तीर्थ कहा है. इस प्रकार वह दूसरा भी
पर्याय होता है. ॥ ११७ ॥

सत्त्वो पुठ्वकयाणं, कम्माण पावप्प फलविवाय ॥

अवराहेसु गुणेषु अ निमित्तमित्त परो होइ ११८

सर्वः पूर्वकृतानां, कर्मणा प्राप्नोति फलविपाकम् ।

अपराधेषु गुणेषु च, निमित्तमात्रं परो

अर्थः—तमाम जीव पूर्व कृत कर्मों के फल विपाक को पात हैं. अपराधों के अन्दर तथा गुणों में अन्य दूसरा तो निमित्त मात्र ही है जैसा जीव कर्म करता है वैसा ही फल को पाता है. दूसरे क किया हुआ कुछ भी नहीं होता है. धारिज्जइ इत्तो जलनिही, वि कल्लोलभिन्नकुलसेलो न हु अन्नजम्मनिम्मिय, सुहासुहो कम्मपरिणामो धार्यत इत्तो जलनिधि, रपि कल्लोलभिन्नकुलशील न ह्यन्यजन्मनिमित्त-शुभाशुभ कर्मपरिणाम ११९.

अर्थः—अपने फल्लोलों द्वारा बड़े पर्यंतों को जिसने भेदा है. ऐसे समुद्र को धारण कर सकता है मगर अन्य भव में किये हुए शुभाशुभ [अच्छे या बुरे] कर्मों के परिणामों को नहीं रोक सकता है ॥ ११९ ॥

अकय को परिभुजइ,

सकय नासिज्ज कस्स किर कम्म

सरुपमणुभुजमाणो, कोस जणो दुम्मणो होई ।

अकृतं क परिभुजक्ते, स्वकृतं नश्यति कस्य किल कर्म
स्वकृतमनुभुजान्, कथं जनो दुर्मना भवति ॥१२०॥

अर्थः—विना किया हुआ कर्म कौन भोक्ता है ? अपितु कोईभी नहीं भोगता है, और अपना किया हुआ कर्म किस का नाश होता है अपितु किसी का भी कर्म नष्ट नहीं होता है, तो फिर अपना उपार्जन किया हुआ कर्म को भोगता हुआ मनुष्य क्यों दुःखी होता है, हमेशां समय भावसे कर्म विपाक को भोगना चाहिये, ॥ १२० ॥

पोसेइ सुहभावे, असुहाइ खवेइ नरिथ सदेहो ।

छिदइ नरयतिरियगइ, पोसहविहि अप्पमत्तो य
पोपयति शुभभावा-नशु भानि क्षपयति नास्ति सदेह
छिनत्ति नरकतिर्यग्गति, पोपधविधिरप्पमत्तश्च १२१

अर्थ.—अप्पमत्तता से जो मनुष्य विधि पूर्वक पोपध-
करता है, वह पुरुष शुभभावों का पोषण अरता है और
अशुभ भावों को क्षपाता है, तथा नरक, तिर्यचक्ती गतिको
छेदन करता है, इस में सदेह नहीं है ॥ १२१ ॥

॥ अष्ट प्रकारी पूजा ॥

वरगधपुप्फ अक्खय, पईवफलधूपनोरपत्तेहिं ।

नेविज्जविद्वाणेण य, जिणपूआ अट्ठहा भणिया ॥

वरगन्धपुष्पाक्षत-प्रदीपफलधूपनोरपात्रः ।

(८६)

नैवेद्यविधानेन च, जिनपूजाऽष्टधा भणितार्ता ॥१२२॥

अर्थ.—श्रेष्ठ-अच्छी गन्ध पूजा १ पुष्प पूजा २ अक्षत-अखण्डित-अक्षत पूजा, दीपक पूजा ४ फल पूजा ५ घृण पूजा ६ कलश पूजा ७ और नैवेद्यविधान पूजा ८ ऐसे अष्ट प्रकारसे जिनेश्वर की पूजा कही है, ॥ १२२ ॥

॥ जिनेन्द्र भगवान् की पूजा का फल ॥

उवसमइ दुरियवग्ग, हरइ दुह कुणइ

सयलसुखवाइ ।

चिंताईयपि फेले, साहइ पूंथा जिणंदाणं ॥१२३॥

उपशमयति दुरितवर्गं, हरति

दुःखं करोति सकलसौख्यानि ।

विन्तातीतमपि फल, साधयति पूजा जिनेन्द्राणाम्

अर्थ —जिनेश्वर भगवान् की पूजा दुरित-पाप वर्ग को उपशमानी है, और दुःख को हर्ती है, सब सुखों को उत्पन्न करती है, मोक्ष फल को भी साधती (अचिन्त्य) है।

॥ धर्म कार्य करने में विधि की उत्कृष्टता ॥

धन्नाण विहिजोगो, विहिपक्खाराहगा सया धन्ना
विहिचहुमाणा धन्ना, विहिपक्ख अदूसगा धन्ना

न्यानां विधियोगो, विधिपक्षाराधकाः सदा धन्याः
विधिपक्षाराधकाः धन्याः, विधिपक्षाऽदूषका धन्याः ॥१२४॥

अर्थः—विधि का योग भाग्यशाली मनुष्यों को मिल-
ता है। विधि मार्ग को आराधन करने वाले पुरुषों को हमे-
रा धन्यवाद है, विधिका सत्कार करने वाले जनो को ध-
न्य है। और विधि पक्ष को अविधि से दूषित नहो करते
हैं। वे धर्मात्मा भी धन्य वाद के पात्र गाने गये हैं ॥१२४॥

॥ अन्तिम मङ्गलाचरण ॥

सवेगमणो संबोधसत्तरि, जो पढेइ भवजीवो ॥
सिरिजयसेहरठाण, सो लढेइ नल्लि सदेहो ॥१२५॥
सवेगमनाः संबोधससति, य पठति भव्यजीय ।
श्री जयशेखरस्थान, म लभते नास्ति सदेह ॥१२६॥

अर्थ—सम्यक् प्रकार से बोध को देने वाले अर्थात्
शुद्ध परिणति को करने वाले ऐसे संबोध सत्तरि
नामक प्रकरण को जो संवेग रंग से रंगा हुआ मन वाला
भक्तजन पढ़ता है वह पुरुष अष्ट कर्म रूप शत्रु के जय से
प्राप्त हुई भाव लक्ष्मी के जय शेखर (मोक्ष) स्थानको प्राप्त
करता है। उस में किसी प्रकार का सन्देह नहीं ॥१२६॥

(८८)

श्रीमन्नागपुरीयाह, तपोगणकजारुणा ॥
ज्ञानपीयूषपूर्णागा सूरिन्द्रा जघशेखरा ॥१॥
तेषा पत्न्यजमधुषा, मुरयो रत्नशेखरा. ॥
सार सुज्ञात् समुद्धृत्य, चक्र. सपोषसप्ततिम् ॥२॥

श्रीरत्नशेखरसरिप्रणीतप्रिविधविषयाकीर्णसङ्कोचसत्तरि-
प्रकीर्णकस्य प्राकृतसंस्कृतानभिज्ञजिज्ञासुना मुख-
बोधाय बह्नुभश्रीविहित हिन्दीभाषानुवाद.

समाप्तिमगमत्

श्रेयमेऽस्तु,



॥ अथान्त्य-प्रशस्ति मङ्गलम् ॥

॥ दृष्टा. ॥

स्वस्ति श्री स्याष्टादमय-विधि धर खरतर गच्छ, ।
 सुखरु-गणनायक जहाँ, “सुख सागर” गुरु स्वच्छ ॥ १ ॥
 उन के शिष्य “भगवान” गुरु, भव भय हर भगवान ।
 तीव्र-तपस्वी ज्ञानिगुरु, “छगन सिन्धु” गुणवान ॥ २ ॥
 गुरु “त्रिलाक सागर” मगर, संयम रक्षक धीर ।
 वर्तमान गणनाथ “हरि सागर” गुण गम्भीर ॥ ३ ॥
 श्री “आनन्द सागर” सदा, दे आनन्द अवार ।
 पर उपाकारो है गुरु, सदाचार धरनार ॥ ४ ॥
 शिष्यतस्य विनयावनत, श्री “महेन्द्र सुखरार ।
 सशोधक इसमे “कवीन्द्र, गुरु गुण के भण्डार ॥ ५ ॥
 “उद्योत श्री जी” हुई, मवर्तिनी पदगार ।
 उनकी शिष्या आमती लक्ष्मी श्री जयकार ॥ ६ ॥

तत्पद पकज मधुकरी, “शिव श्री” श्रीसार ।

मम गुरुणी पद धारिणी, शिवमुखकी दातार ॥ ७ ॥

हितशिक्षा सह ज्ञान दे, किया उहुत उकार ।

दु खद्वारिणी श्रीमती, “ज्ञान श्री है सार ८ ॥

भाषान्तर सक्षेप यह, पूज्यो क परताप ।

“वल्लभश्री” ने है लिखा पढो मिटे सन्ताप ॥ ९ ॥

गुर्जर जनपद मुकुटमणि, “ अहम्मदाबाद म आज ।

सज्जन जन शोधन करे, कृपया यह हितकाज ॥ १० ॥

श्रीवीरात् चौबीस सौ, पचपन बीते वर्ष ।

मिगसर शुक्लासप्तमी, बुधवासर हो र्ष ॥ ११ ॥

॥ समाप्ता प्रशस्ति ॥

॥ ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति, ॥

आर्या वल्लभश्री

॥ अथ शुक्तिपत्रकम् ॥

७७	एणि	अशुद्ध	शुद्ध
	७	•	देवधर्मगुरुका स्वरूप
	१२	भगुरु	सुगुरु
४	११	उत्सर्गत	उत्सर्गत
५	१	और	और
		आराधन	आराधन
११	८	गुरुकुत्का	गुरुका
१	१६	गुरु शब्द	गु शुब्द
६	६	समुद्र मे	समुद्र मे
१	७	तद्वत्	तद्वत्
९	१०	निरोद्धा	निरोद्धा
१४	२	अक्षतो	अक्षतो
१६	५	साधमे	साधमे
१९	९	जगद्गुरुष	जगद्गुरुष
२	१	छदीय	मृदिये
२२	५	(२० मण)	(२० आल मण)
२१	४	निद्र	निद्र
	६	निम्दा	निम्दा
२४	३	अदृष्टसद्वा	अदृष्टसद्वा
	८	होत्र	होत्र
१	१६	चउद्दश	चउद्दश
३८	७	पचेप्रिय	पचाग्रय
११	१६	मह वत	महा वत

२९	५	रथादिम	रथादिम
३	४	दशी	दसी
१३	७	प्रकृति	प्रकृति
"	१०	सम्बन्ध	सम्बन्ध
३१	२	दृष्टि	दृष्टि
१	९	दसिया	दसिया
३२	४	गुरु	गुरु
३४	९	ह.	है
३६	९	कयोकी	कयो कि
३९	१२	लब्ध	लब्ध
४१	१	सत्तार	सत्तार
४१	१५	जामानां	जसाणा
४२	९	तय	तय
४२	११	कुपमे	कुपमे
४३	५	उत्तरादिण	उत्तरादिण
४५	६	दानम	दानम
४६	११	कदापी	कदापि
५०	६	दोस	दोस
५१	११	जयणी	जयणा
५८	१५	लभणहैण	लभणहै
५९	११	पूर्वाक	पूर्वाक
६०	१८	अठमो	अठमी
,	,	चउददसीसु	चउदसीसु
,	,	पग	ठापग
१९	१९	आसिणाण	आसिणाण

